भारतीय संस्कृति के मूलाधार

प्रकाशक
राजस्थान एज्यूकेशनल स्टोर्स
दाऊजी रोड, बीकानेर (राज)

भारतीय संस्कृति के मूलाधार

डॉ० स्वर्णलता अग्रवाल

प्रकाशक राजस्थान एज्यूकेशनल स्टोर
दाऊजी रोड, बीकानेर-३३४ ००१

मूल्य : चालीस रुपये
प्रथम संस्करण : अक्टूबर १९८५

BHARTIYA SANSKRITI KE MOOLADHAR
by
Dr Swarnalata Agrawal
Rs 40 00

मुद्रक : पवन प्रिंटर्स, शाहदरा, दिल्ली-३२



सादर समर्पित

प्ररणा के स्रोत योगीराज महर्षि अरविन्द को

—स्वर्णलता अग्रवाल

आमुख

भारत की सस्कृति सदा से जीवन के आधारभूत आध्यात्मिक, धार्मिक, नैतिक, सदाचार सबधी, कलात्मक, आर्थिक, राजनैतिक एव भौतिक मूल्यो की जननी रही है। प्राचीन काल के सतो ने जीवन के सार को धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष के समन्वय मे एक व्यापक जीवनदृष्टि से देखने का प्रयास किया था। उन्होंने जीवन के सदाचार सबधी नैतिक, भौतिक, भावात्मक और आध्यात्मिक तत्त्वो की परिकल्पना की थी।

अनेक विद्वानो ने भारतीय सस्कृति के विभिन्न पहलुओ पर बहुत कुछ लिखा है। प्रस्तुत प्रकाशन मे एक अनुभवी और विदुषी शिक्षाविद् के परिपक्व विचार हैं। मेरा उनसे कई वर्षों का परिचय है, विशेषकर इसलिए कि वे स्वामी शिवानन्दजी महाराज की अनुयायिनी रही हैं।

डॉ० स्वर्णलता का सपूर्ण जीवन शिक्षा से सबद्ध रहा है और वे राजस्थान के कई कॉलेजो की प्रधानाचार्या रही है। वे अक्सर मुझसे भारतीय युवको के जीवन मे भारतीय मूल्यो की स्थापना के विषय मे चर्चा करती रहती थी। इस प्रकाशन मे जीवन के मूलभूत मूल्यो की काफी चर्चा है। स्कूलो और कॉलेजो के छात्रो के लिए यह पुस्तक उन मूल्यो का अच्छा परिचय देगी।

द डिवाईन लाइफ सोसायटी
ऋषिकेश

— स्वामी कृष्णानन्द

प्राक्कथन

कला एव विज्ञान के क्षेत्र मे भारतीय सस्कृति के मूल स्वर आत्मतत्त्व को जन-चेतना म लाने के लिए यह आवश्यक है कि आदिकाल से लेकर अब तक विभिन्न क्षेत्रो मे हुई भारतीय सस्कृति की उपलब्धियो के क्रमिक विकास का पर्यवेक्षण करके उनका सार्वभौमिक मूल आधार खोजा जाए। इस समस्त अध्ययन मे हम देखेंगे कि कला एव विज्ञान की विभिन्न विधाओ, मनोविज्ञान, ज्योतिष और खगोल विद्या, राजनीतिशास्त्र एव अर्थशास्त्र, साहित्य, सगीत और नाटक, आयु-विज्ञान और गणितशास्त्र के क्षेत्रो मे अनुसधान, प्रभाव और चरम विकास का *अध्ययन करने वाले अखिल विश्व विद्वानो के मन मे भारतीय सस्कृति आधार-*शिला रूप मे बडी महत्त्वपूर्ण स्थान प्राप्त करती पायी जाती है।

भारतीय सस्कृति का मूल वेदो और उपनिषदो मे है जो इस देश के युग-द्रष्टा ऋषियो-महर्षियों की अनुभूति का परिणाम है और उन्ही की वाणी का प्रतिफल प्राचीन सस्कृत साहित्य के रूप मे उपलब्ध होता है। महाभारत और रामायण जैसे महाकाव्यो मे इन ऋषियो की वाणी मुखरित होकर मानव-समाज के व्यावहारिक जीवन के लिए नीति-बोध प्रस्तुत करती है। इन प्राचीन भारतीय ग्रन्थों के कुछ विधि निषेध भले ही आज के युग को मान्य न हो, परन्तु भारतीय मूल दृष्टि के अनेक तत्त्व इन ग्रन्थो मे मिलते हैं जो आज भी हमारे राष्ट्रीय तथा व्यावहारिक जीवन के लिए महत्त्वपूर्ण सिद्ध हो सकते हैं। हिन्दू सस्कृति इस देश की सबसे प्रधान और व्यापक सस्कृति है। भारतीय सस्कृति को समग्रतया हिन्दू सस्कृति मे समीकृत किया जा सकता है। यहा अनेक विदेशी जातिया (यूनानी, शक, हूण, पठान और मुगल, पुर्तगाली, फ्रासीसी तथा अग्रेज) आयीं, यहा बसने का प्रयत्न किया और बहुत-सी इस देश मे बस भी गयीं। उन सभी की प्रधान सस्कृति की विशेषताओ को भारतीयो न आत्मसात् कर लिया और उन सास्कृतिक विविधताओ से समन्वित हुई। यह विशाल भारतीय *सस्कृति विश्व की सस्कृतियो मे अपना उच्चतम स्थान रखती है।* राष्ट्रकवि दिनकर ने कहा है कि 'जो जाति केवल देना ही जानती है, लेना कुछ नही, उसकी सस्कृति का एक न एक दिन दिवाला निकल जाता है। इसके विपरीत आदान-प्रदान वाली सस्कृति जो है उसमे सदा ही स्वच्छ जल लहराता रहता है और कमल के फूल खिलते रहते हैं। कूप-मण्डूकता और दुनिया से उठकर अलग बैठने

का भाव संस्कृति को ले डूबता है। जब भी दो जातियाँ मिलती हैं, उनके सम्पर्क या संघर्ष से जीवन की एक नयी धारा फूट निकलती है जिसका प्रभाव दोनों पर पड़ता है।"[1] आदान प्रदान की प्रक्रिया संस्कृति की जान है और इसी के सहारे वह अपने को जिन्दा रखती है। भारत देश और भारतीय जाति इस दृष्टि से संसार में सबसे महान् है क्योंकि यहाँ की सामाजिक संस्कृति में अधिक से अधिक जातियों की संस्कृतियाँ पची हुई हैं।

यद्यपि संस्कृति के कुछ क्षेत्रों में धर्मगत भेद महत्त्वपूर्ण नहीं होते परन्तु भारतीय संस्कृति में उक्त सभी अनेक जातियों तथा उनके विभिन्न धर्मों से संबंधित सांस्कृतिक धारणाओं का समावेश होने के कारण हिन्दू संस्कृति को यहाँ की प्रतिनिधि संस्कृति कहा जा सकता है।

बौद्ध तथा जैन धर्मों ने अवश्य निर्वाण या मुक्ति और साधना के सम्बन्ध में नया चिन्तन किया, किन्तु सामाजिक गृहस्थजनों के लिए किसी नयी क्रांतिकारी व्यवस्था का निर्माण नहीं किया। इस्लाम तथा ईसाई धर्मों ने भी यहाँ संस्कृति के विभिन्न क्षेत्रों में व्यापक सृजनात्मक कार्य नहीं किया। इस्लाम ने जहाँ हमारी कला और कुछ हद तक साहित्य को प्रभावित किया वहाँ दर्शन के क्षेत्र में विशेष उपलब्धियाँ नहीं, मुसलमान शासकों ने हमारी राजनैतिक तथा शासन सम्बन्धी विधाओं पर अपना प्रभाव अवश्य डाला। अंग्रेजों के भारत निवास काल में यूरोप का कुछ प्रभाव जीवन सम्बन्धी आदर्शों पर भी आया और आ रहा है। परन्तु वह हिन्दू-चेतना एवं संस्कृति का अंग बनकर ही प्रभावित करता रहा है।

मानव जीवन के अनेक पहलुओं का जितना विविध व व्यापक चित्र हिन्दुओं के साहित्य में मिलता रहा है, उतना किसी दूसरी जाति या धर्म के साहित्य में नहीं।

रामायण और महाभारत जैसे जातीय महाकाव्यों तथा कालिदास, भारवि, भास तथा भवभूति आदि की श्रेणी के महाकवि और नाटककारों के साहित्य से हिन्दू संस्कृति का अध्ययन करने पर उन सब विशेषताओं का ज्ञान हो सकता है जो भारतीय संस्कृति के अनुसार मानव व्यक्तित्व को विभिन्न रूपों में उत्कर्ष प्रदान करती हैं। प्रत्येक वर्ग के नर-नारियों के चारित्रिक उत्कर्ष और उसके मापदण्डों को समझने के लिए श्रेष्ठ स्रोत हमारा तथाकथित लौकिक साहित्य है। लोक-जीवन से सम्बद्ध सौन्दर्य-बोध तथा नैतिक आदर्शों के विषय में अन्य धर्म एवं जातियाँ भी बहुत कुछ हिन्दू संस्कृति से ही प्रभावित रही।"[2] राजनैतिक क्षेत्र में

---

१. संस्कृति के चार अध्याय।

२. भारतीय संस्कृति—डॉ॰ देवराज, पृ॰ ३६।

भी भारतीयो ने विश्व को प्रभावित किये बिना नही छोडा है। उत्तर-पश्चिम मे अफगानिस्तान, दक्षिण मे लका, पूर्व मे बर्मा, हिन्दचीन और जावा आदि पर भारत का स्पष्ट प्रभाव दर्शनीय है। उद्योग क्षेत्र मे यह प्रसिद्ध ही है कि प्राचीन भारत के व्यापारी रोम तक के बाजारो मे अपना माल बेचते थे। प्राचीन भारतीय साहित्य सदैव सभ्य जातियो को प्रभावित करता रहा है। भारतीय लोक-जीवन की कहानिया और कालिदास के 'शाकुन्तल' आदि नाटको की ख्याति व प्रभाव भारत तक ही सीमित नही रहा, विश्व की कई भाषाओ मे इनका अनुवाद भी हो चुका है। भारतीय उपनिषदो एव दर्शन ने कुछ इस्लामी तथा यूरोपीय विचारको को भी प्रेरित किया। अको मे लिखन की भारतीय पद्धति ही आधुनिक गणितशास्त्र की प्रगति का आधार है, यह तथ्य सर्वविदित है। कौतूहल एव जिज्ञासा मानव स्वभाव की स्वत प्रेरित विभूति है, जिसकी तुष्टि के लिए ही विश्व मे पृथ्वीतल पर महान खोजें और अनुसधान हुए है। चिन्तनशील मानव सदैव यह जानने को इच्छुक रहता है—क्यो ? कैसे ? क्यो हो रहा है ? कब होगा ? वह केवल आख से प्रत्यक्ष दीखने वाली चीजो और घटनाओ से ही सन्तुष्ट नही होता बल्कि ईश्वर की सृष्टि के अप्रत्यक्ष रहस्यों को भी जानने की मानव-मन मे उत्कण्ठा रहती है और उनकी जानकारी प्राप्त करके उसे जो तृप्ति मिलती है उससे वह आनन्दविभोर हो उठता है।

इस अनुसधान के सामान्यत दो रूप हैं—बाह्य जगत् एव अन्तर्जगत्। पाश्चात्य देशो मे मानवबुद्धि सृष्टि के बाह्य रूप के अध्ययन मे रत होकर आश्चर्यजनक वैज्ञानिक खोज करने मे समर्थ हुई, जिसके फलस्वरूप न केवल हमारे जीवन-यापन-हेतु लौकिक सुविधाए उपलब्ध हुई है और चन्द्रमा के उद्गम-स्थान तक पहुचने मे मानव समर्थ हो गया है, परन्तु भारतीय मनीषा का चिन्तन मूल मे आन्तरिक रहा जिसने आध्यात्मिक शक्ति से ईश्वरीय सृष्टि मे व्याप्त ग्रह-नक्षत्रो की गतिविधियो का अध्ययन करके ज्योतिषशास्त्र को जन्म दिया और मानव जीवन के शारीरिक, मानसिक तथा बौद्धिक अध्ययन ने योगशास्त्र की उद्भावना की, जिसमे मनुष्य को शारीरिक एव मानसिक रूप से स्वस्थ रहने के उपायो की खोज के साथ सृष्टि के मूल परम तत्त्व ईश्वर (ब्रह्म) अर्थात् आत्मतत्त्व से योग स्थापित करने के भी उपाय और साधनाए हैं।

मनुष्य का महत्त्वपूर्ण इतिहास उसकी सभ्यता और सस्कृति का इतिहास है। हमारे देश मे दार्शनिक जिज्ञासा और आध्यात्मिक साधना का महत्त्वपूर्ण स्थान रहा है, और दार्शनिक आस्थाए किसी सस्कृति की नीव का निर्माण करती हैं। भारतीय सस्कृति की एकता मुख्यत. आध्यात्मिक दृष्टि तथा साधना की एकता है, किन्तु केवल धर्म और दर्शन पर यहा की सस्कृति समाप्त नही हो जाती, भारतीय धर्म और सस्कृति मे गृहस्थाश्रम को शेष तीनों आश्रमो का आधार

बताया है। गृहस्थाश्रम मे उपार्जित अर्थ से धर्म और कर्तव्यनिष्ठा के बल पर हो ब्रह्मचर्य तथा वानप्रस्थ जीवन का पालन होता है और उसी से सन्यस्त जीवन मे भिक्षावृत्ति का निर्वाह होता है। सन्यासी के आजीवन सचित किये ज्ञान का लाभ भी गृहस्थाश्रम के सदस्य उठाते है। महर्षि अरविन्द ने लिखा है कि यह सिद्ध हो चुका है कि विज्ञान मे आधुनिक युग से पूर्व भारत सभी देशो से आगे था और यूरोप तक ग्रीक के समान ही प्रारभिक भौतिक विज्ञान म भारत ऋणी है। आगे लिखते है कि विशेषकर गणित, ज्योतिषशास्त्र, नक्षत्र विज्ञान तथा रसायनशास्त्र मे जो प्राचीन विज्ञान के प्रमुख तत्त्व हैं, भारत ने बहुत खोज की है। अपनी तीक्ष्ण बुद्धि तथा प्रतिभा के बल से कुछ वैज्ञानिक विचारो और खोजो का पूर्व ज्ञान प्राप्त किया, जिसे यूरोप ने बहुत देर मे खोजा।

प्राचीन ऋषियो का लक्ष्य केवल परमेश्वर को जानना ही नहीं था बल्कि जगत् और जीवन को जानना तथा ज्ञान के द्वारा उन्हे वह सुविज्ञात रूप दे देना जिसके साथ मनुष्य की तर्कबुद्धि और इच्छाशक्ति एक निश्चित रूपरेखा के साथ ज्ञानपूर्ण एव व्यवस्था के आधार पर व्यवहार कर सके।

शास्त्र का अर्थ था प्रणालीबद्ध शिक्षा एव विज्ञान। जीवन के प्रत्येक विभाग, कार्यकलाप की प्रत्येक शाखा और ज्ञान के प्रत्यक विषय का अपना शास्त्र होता था। इसका उद्देश्य था कि जीवन से सबधित प्रत्यक विषय को ऐसी सैद्धान्तिक और व्यावहारिक परिपाटी मे परिणत कर दिया जाए जो पूर्ण अनुभव और अतर्ज्ञानमूलक तार्किक एव परीक्षणात्मक विश्लेषण पर आधारित हो, जिससे मनुष्य इन्हे जीवन के लिए समुचित उपयोग हेतु जान सके और फिर यथार्थ ज्ञानमूलक सुनिश्चितता के साथ कार्य कर सके।

इसी अर्थ मे गीता अपनी गहन आध्यात्मिक शिक्षा को अत्यन्त गुह्य विज्ञान—'गुह्य कर्मशास्त्र' का नाम देने में समर्थ हुई है।

गणितशास्त्र का आधार शून्य अक की खोज, नक्षत्र विज्ञान की उत्पत्ति एव फलादेश रूप मे ज्योतिष की आश्चर्यजनक उपलब्धिया आप्त ऋषियो के दृष्टिकोण के प्रमाण हैं।

भारतीय ऋषियो ने अन्त चेतना से प्राचीन विज्ञान के मुख्य अगो—गणित, ज्योतिष व रसायन मे सम्यक् रूप से खोज की और सिद्धान्त स्थिर किये। तर्क या परीक्षण के बल पर कुछ वैज्ञानिक विचारो और आविष्कारो की भविष्यवाणी की जिन पर यूरोप पहले-पहल बहुत देर बाद पहुचा और विद्वान इन विधाओ को एक सुदृढ आधार पर प्रतिष्ठित कर सके।[1]

प्राचीन भारतीयो ने सभ्यता व सस्कृति के क्षेत्रों मे महत्त्वपूर्ण उपलब्धिया

---

१. श्री अरविन्द। भारतीय सस्कृति के आधार, पृ० २०१।

प्राप्त कीं। इस परिवेश मे हमें देखना है कि उनकी दृष्टि मे वे कौन जीवन-मूल्य थे जो व्यक्तिगत एव जातीय महत्ता का उपादान समझे जाते थे। भारतीय संस्कृति का अध्ययन एव व्याख्या यहा के दर्शनो के आधार पर होती रही है, जो वस्तुत किसी भी संस्कृति का मूलाधार होते हैं परन्तु उस अध्ययन मे लौकिक जीवन के सौन्दर्य और सरक्षण की प्राय उपेक्षा-सी रही है। संस्कृति के उस पक्ष की व्याख्या प्रचुरता से होती रही है जिसका सम्बन्ध मोक्ष साधना से है। यही कारण है कि अनेक विदेशी विद्वानो ने यह दिखाने का प्रयत्न किया है कि भारतीय संस्कृति मूलत निवृत्तिमूलक तथा परलोकपरायण है। आधुनिक सभ्यता के रग मे रगा हुआ आज का भारतीय युवा वर्ग भी इस प्रकार की धारणाए बनाकर भारतीय संस्कृति के यथार्थ स्वरूप को पहचानने-समझने से वचित रह जाता है, परन्तु वह एकपक्षीय अध्ययन का फल है। वस्तुत भारतीय राष्ट्र तथा संस्कृति का ऐतिहासिक महत्त्व सर्वमान्य तथ्य है। उसने विश्व की संस्कृति तथा सभ्यता को अग्रसर करने म महत्त्वपूर्ण योग दिया है।

इसी उद्देश्य से भारतीय संस्कृति का यह अध्ययन प्रस्तुत करने की प्रेरणा मिली जिससे विभिन्न क्षेत्रों में हुई सास्कृतिक प्रगति के मूल को भारत के ही वैदिक काल मे पाकर वैज्ञानिक चमत्कारो की चौंध मे महामहिम भारतीय संस्कृति की आध्यात्मिक निधि के स्वरूप को भूला हुआ आधुनिक समाज अपनी अक्षुण्ण आत्म-शक्ति को पहचानने के साथ संस्कृति के व्यावहारिक पक्ष को हृदयगम कर सके।

प्रेरणा के स्रोत थे शिवानन्द आश्रम, ऋषिकेश के महासचिव परम विचारक एव शिक्षाशास्त्री स्वामी कृष्णानन्दजी महाराज।

अन्तर्राष्ट्रीय ख्यातिप्राप्त महर्षि योगी अरविन्द की रचना 'Foundations of Indian Culture' को आधार बनाकर स्वामीजी ने मार्गदर्शन किया। यह अध्ययन प्रस्तुत करने में मैं स्वयं अत्यन्त गौरवास्पद अनुभव करती हू। पूज्य स्वामीजी ने इस तुच्छ रचना के लिए 'आमुख' लिखकर इसे बहुमूल्य बना दिया है। उनके प्रति मैं विनीत भाव से नतमस्तक हू। जिन विद्वानो की कृतियों से अपनी अध्ययन-अवधि मे लाभ उठाया है, उनके प्रति आभार प्रकट करना भी मेरा नैतिक कर्तव्य है।

विभिन्न विषयक विद्वानों से व्यक्तिगत परामर्श द्वारा जानकारी प्राप्त की, वे भी मेरी कृतज्ञता के पात्र हैं। उनमे प्रमुख हैं— ज्योतिषशास्त्र के परम विद्वान श्री रामप्रसाद सहल, खगोलविद्या के ज्ञाता श्री रजनीकान्त शर्मा, चिकित्सा-शास्त्र के अनुभवी प० सुरेशचन्द्र पाठक आयुर्वेदाचार्य, डॉ० सर्वकृष्ण गुप्त तथा श्रीमती डॉ० विनोदिनी गुप्ता (यू० एस० ए०), विज्ञान एव शिल्प मे निष्णात श्री प्रदीप शाह, मि० हरीश अग्रवाल और इलेक्ट्रोनिक्स की विशेषज्ञा श्रीमती शिरोमणि गोयल और श्री प्रदीप गुप्ता।

योगी अरविन्द ने भारतीय सस्कृति के योगदान का ओजपूर्ण वर्णन अपनी महान् कृति 'फाउण्डेशन्स ऑफ इडियन कल्चर' मे किया है, जिसका मूल उन्होंने आदिग्रथ वेदो मे पाया। आशा है इस पुस्तक द्वारा इस तथ्य का उद्घाटन हमारे नवोदित राष्ट्र के जन-मानस मे चेतना जागृत करने मे सहायक होगा, हमारी युवा पीढी के लिए प्रेरणास्पद तथा उपादेय होगा। वे उन सभी गुणो से सम्पन्न होने के लिए प्रयत्नशील बनेंगे जिनके बल पर आज भी भारतीय संस्कृति अखिल विश्व मे सम्माननीय पद पर आसीन है। उन गुणो के पुनरावर्तन से ही भारत फिर से अपनी खोयी हुई समृद्धि को प्राप्त कर आगे बढ सकता है।

प्रकाशक की ओर से

इस पुस्तक की लेखिका डॉ० स्वर्णलता अग्रवाल से हिन्दी भाषा के जानकार भली-भांति परिचित हैं। शिक्षा जगत् मे उनका अपना एक विशेष स्थान है। लगभग तीन दर्जन पुस्तको की रचना करने के अतिरिक्त उन्होंने कई सामाजिक व शैक्षणिक सस्थाओ की स्थापना व सफल सचालन किया है। उत्तरी राजस्थान मे उनके द्वारा स्थापित शिक्षण सस्थाओ मे हजारो बालक-बालिकाए ज्ञानार्जन कर रही हैं।

उन्होंने एक सामान्य बालिका की तरह अपना जीवन प्रारभ किया। अपनी कठोर श्रम-साधना, दृढ सकल्पशक्ति, शिक्षा के प्रति लगाव, सबको साथ लेकर चलने की कला, ईश्वर मे अटूट आस्था, सबके प्रति भलाई की भावना आदि कुछ ऐसे गुण हैं जिनके सहारे वे आगे बढती गईं।

स्वामी विवेकानन्द, स्वामी शिवानन्द, महात्मा गाधी और सत विनोबा जैसे महापुरुषो के साहित्य ने आपको बहुत अधिक प्रभावित किया। इस साहित्य के अध्ययन से आपकी कार्यशैली नैतिकता, धार्मिकता और आध्यात्मिकता के विचारो से ओतप्रोत हो गई। आपने देश की नयी पीढी को भी इसी प्रकार के साहित्य से लाभान्वित करने का निर्णय कर लिया।

अध्यापन के क्षेत्र मे कार्य करते-करते वे एक स्नातकोत्तर महाविद्यालय के प्रिंसिपल के पद पर पहुच गईं। आप राजस्थान विश्वविद्यालय की सीनेट, एकेडेमिक कौंसिल, बोर्ड ऑफ स्टडीज आदि की सदस्या भी रहीं। आप २२ वर्षों तक भारत स्काउट्स एव गाइड्स सगठन से सबधित रहीं और स्टेट कमिश्नर के रूप मे रिटायर हुईं। राष्ट्रीय बचत योजना बोर्ड, भारत सेवक समाज, राष्ट्रीय विकास योजना तथा राष्ट्रीय सैनिक प्रशिक्षण योजना जैसे सगठनो को आपका सक्रिय योगदान मिलता रहा।

आप द्वारा सस्थापित और सचालित शैक्षणिक और सामाजिक सस्थाओ के छात्र-छात्राओ, शिक्षको, कर्मचारियो और सहयोगियो द्वारा आप 'माताजी' के नाम से पुकारी जाती हैं। सचमुच आपसे उनको मा-सा स्नेह मिलता है। निर्धन और पिछडी जाति की छात्राओ और महिलाओ के लिए तो वे *जन्म-दायिनि मा* की तरह ही हैं। परन्तु इतने सब कामो मे व्यस्त रहकर भी उन्होने साहित्य-सृजन का प्रेरक कार्य भी चालू रखा है। सत्यम् शिवम् सुन्दरम् का बोध और

रसास्वादन कराने वाली आपकी पुस्तकें बड़े चाव से पढ़ी जाती हैं। आपकी पुस्तकें अनेक स्थानों से प्रकाशित हुई हैं और कई पुस्तकें मुद्रणाधीन हैं।

'भारतीय संस्कृति के मूलाधार' नामक इस पुस्तक के प्रकाशन का अवसर श्रद्धेय माताजी ने हमें दिया है, मैं इसके लिए उनका आभारी हूं। इससे पूर्व मैं अपने व्यावसायिक गुरु स्व० (मास्टरजी) श्री विशम्भरदयाल अग्रवाल (संस्थापक अग्रवाल साहित्य सदन, श्रीगंगानगर) का आभार प्रकट करना जरूरी समझता हूं। मास्टरजी स्वनिर्मित पुरुषार्थ के धनी थे। उन्होंने अपने जीवनकाल में अनेक युवकों को स्वावलंबी जीवन व्यतीत करने के लिए प्रेरणा और हर प्रकार का सहयोग दिया। मेरे पर उनकी बहुत कृपा थी। आज उनके सुपुत्र मास्टरजी द्वारा संस्थापित प्रतिष्ठानों का कुशलतापूर्वक संचालन कर रहे हैं। इसके साथ ही प्रकाशन और मुद्रण-कार्य में मार्गदर्शन के लिए मै० पराग प्रकाशन, दिल्ली के भागीदार श्री श्रीकृष्ण का भी आभारी हूं।

पुस्तक की साज-सज्जा और मुद्रण में शायद किसी प्रकार की भूल विज्ञ पाठकों के ध्यान में आ सकती है। इस सम्बन्ध में रचनात्मक सुझावों का सादर स्वागत होगा।

राजस्थान एज्यूकेशनल स्टोर
बीकानेर-३३४ ००१

—श्रीगोपाल आचार्य

अनुक्रम

भारतीय संस्कृति के मूलाधार

१
संस्कृति की परिभाषा

ज्ञान और कर्म दोनो के प्रकाश की सज्ञा सस्कृति है। 'सस्कृति ही जन का मस्तिष्क है, सस्कृति के बिना जन की कल्पना कबध मात्र है।' जीवन के विटप का पुष्प सस्कृति है। जीवन के विकास की युक्ति ही सस्कृति के रूप मे प्रकट होती है।

सस्कृति के सौंदर्य और सौरभ मे ही राष्ट्रीय जीवन का सौदर्य और यश सन्निहित है। विचारको एव साहित्यिको ने विविध रूपो मे सस्कृति की परिभाषा की है, परन्तु शाब्दिक भाषा मे सस्कृति की पूर्ण रूपेण परिभाषा करना दुर्लभ है। वह तो एक इतना सूक्ष्म मानव जीवन का आतरिक तत्त्व है जो जन्मजात सस्कारो से बीज रूप मे आकर मानव विकास के साथ शिक्षा, दीक्षा, चतुर्दिक वातावरण और परम्परागत आचार-विचार, खानदान एव सामाजिक प्रथाओ से अपना पूर्ण स्वरूप सम्हालता है। स्वामी रामतीर्थ ने कहा है, 'सस्कृति जीवन का पर्याय ही नही वह तो जीवन की कुजी है।'

सस्कृति मानवीय व्यक्तित्व की वह विशेषता है जो उस व्यक्तित्व को एक विशिष्ट अर्थ मे महत्त्वपूर्ण बनाती है। सास्कृतिक विशेषताए मनुष्य की बुद्धि एव स्वभाव की विशेषताए होती हैं, जिनका अनिवार्य सबध जीवन-मूल्यो से होता है, चाहे वे स्वय मे मूल्यवान हो अथवा उच्चतर मूल्यों के उत्पादन का साधन। इसी मानवीय व्यक्तित्व की विशेषताओ का सामूहिक रूप किसी देश या जाति की सस्कृति का स्वरूप धारण कर लेती है। सस्कृति एक चेतन धर्म है, जिसे अनुभूति द्वारा पूर्ण रूपेण हृदयगम किया जा सकता है। सस्कृति मात्र बाह्य रूप या क्रिया नही, वह मनुष्य के आन्तरिक गुणो का समूह है। सस्कृति का आधार जीवन-मूल्यो मे है। तत्त्वदर्शी महान् सत श्री स्वामी ईश्वरानन्द गिरि ने बताया है 'सस्कृति का आधार अन्य व्यक्ति और पदार्थों के साथ 'स्व' को जोडने की कला मे है। उसमे जितनी सूक्ष्मता, व्यापकता, विशदता, गहन अर्थवत्ता, अखण्डता एव रसमयता का आपादन होता है वह सस्कृति उतनी ही श्रेष्ठ मानी जाती है। 'व्यष्टि समष्टि के साने वाले से ही सस्कृति पद का सृजन होता है।"

१ डॉ॰ वासुदेव शरण अग्रवाल।

संस्कृति एक प्रेरक शक्ति है, वही हमारे सामाजिक व्यवहार और क्रिया-कलापों को रूप देती है। साहित्यिक रचना एवं विभिन्न कलाओं का जन्म हमारी आन्तरिक संस्कृति से ही होता है। किसी देश या जाति के विकास अथवा पतन का आधार उसकी संस्कृति है। संस्कृति के अध्ययन से हमें विदित होता है कि हम अपनी सूक्ष्म वृत्तियों का कितना विकास कर पाये हैं।

संस्कृति मानव की आत्मोन्नति का मापदण्ड भी है और साधन भी।

संस्कृति एक चेतन प्रवाह है, सारे समूह को लेकर वह चलती रहती है, रुक नहीं सकती, गतिमत्ता संस्कृति का प्राण है। संस्कृति प्रवाह अपने में आपतित प्रत्येक व्यक्ति को गतिमान बनाता है। अतः व्यक्ति का विकास तीन स्तरों में होता है अपने आप में, समाज में और विश्व में।

संस्कृति और सभ्यता

संस्कृति अनुभूतिजन्य ज्ञान अथवा संस्कार है जबकि सभ्यता बुद्धिजन्य ज्ञान पर आधारित बाह्य आचरण है। अनुभूतिजन्य ज्ञान चित्तवृत्तियों का स्वतः प्रकटित प्रकाश होने के कारण नित्य होता है और वही हमारे संस्कारों का निर्माण करता है। तभी कहा जाता है कि 'जन्मजात संस्कार अमिट होत हैं।'

'बाल संस्कार अमाउर्मी' आदि। सभ्यता देश और काल के वातावरण से निर्मित हुई तदनुसार बाना बनाकर बदलती रहती है।

अंग्रेजी भाषा में संस्कृति और सभ्यता का विश्लेषण इस प्रकार किया गया है—

"Civilization (सभ्यता) is an expression of flesh while culture (संस्कृति) is the manifestation of soul[1]

सभ्यता मानव-जीवन के आवेगों आकांक्षाओं और आवश्यकताओं का एक पुञ्जीभूत स्वरूप है जिस पर मनुष्य के आन्तरिक प्रकाश की छाया मात्र भी नहीं, न आत्मा का उस पर कोई नियन्त्रण है।

राष्ट्र कवि डॉ० दिनकर के शब्दों में— संस्कृति सभ्यता की अपेक्षा महीन चीज होती है। यह सभ्यता के भीतर उसी तरह व्याप्त रहती है जैसे दूध में मक्खन या फूलों में सुगंध और सभ्यता की अपेक्षा यह टिकाऊ भी अधिक है, क्योंकि सभ्यता की सामग्रियाँ टूट-फूटकर विनष्ट हो सकती हैं लेकिन संस्कृति का विनाश उतनी आसानी से नहीं किया जा सकता।[2]

भारतीय संस्कृति

भारतीय जन-जीवन में व्याप्त गुणों के आधार पर प्राचीन मनीषियों द्वारा

---

१ भारतीय संस्कृति तथा धर्म समन्वय की रूपरेखा से साभार।

२. संस्कृति के चार अध्याय।

रचित साहित्य के अध्ययन से यहा की संस्कृति का पावन रूप परिलक्षित होता है। भारतीय संस्कृति ऋषियो की अन्तर अनुभूतियों मे जनित सर्वांगीण, सम्पूर्ण और सर्वकल्याणकारिणी है, जो मानव मात्र के लिए मंगल की उद्भावना करती है। 'सर्वभूत हितेरता' और वसुधैव कुटुम्बकम्' आदि भारतीय संस्कृति के उदात्त आदर्श हैं। इसी कारण आज यह संस्कृति विश्व वन्दनीय बनी हुई पृथ्वी तल पर अपनी अध्यात्म विद्या के मंगल विधायक अक्षुण्ण तत्त्वो का प्रसार कर रही है। हमारी दैनिक प्रार्थना ही सर्वहित कामना घोषित करती है—

'लोका समस्ता सुखिनो भवन्तु
'सर्वे भवन्तु सुखिन सर्वे सन्तु निरामया' आदि।

भारत भूमि मे अवतरित ऋषि मुनियो द्वारा निर्मित यह संस्कृति वस्तुत आद्य मानव संस्कृति मानी जाने की अधिकारिणी है।

भारतीय ऋषियो की मान्यता है कि प्रत्यक मानव शिशु जन्म लेता है तो अन्य सभी पशुओ जैसे ही होता है—जन्मोपरान्त शिक्षा-दीक्षा आदि संस्कारो से संस्कृत होने पर उसकी संस्कृति का निर्माण होता है। 'आहार निद्रा भय मैथुनञ्च सामान्यमेतत् पशुभिर्नराणाम' अर्थात् भोजन निद्रा भयशीलता और मैथुन यह सब बातें मनुष्या मे पशुओ के समान ही होती है। यदि मानव संस्कृति मे दीक्षित शिक्षित नही होता है तो वह बडा होकर भी पशुवत् बना रहेगा। अतएव पाशवीय संस्कारो को शरीर रक्षा और सन्तानोत्पत्ति आदि आश्यक प्राकृत व्यवहार क्षेत्र तक सीमित न रखकर आदर्श जीवन मूल्यो की प्राप्ति हेतु पौरुषेय संस्कारों को उत्पन्न करना पडता है। और इन संस्कारो को सक्रिय बनाने के लिए पौरुषेय जीवन के विरोधी पशु संस्कारो का निवारण अपेक्षित है जो मानव संस्कृतिकरण म दोषापनयन है। फिर पौरुषेय संस्कारो का आपादन नूतन दृष्टिकोण के अतिशय आदान म होगा।[१]

समस्त पृथ्वी तल पर अलग-अलग क्षेत्रो मे अपनी-अपनी संस्कृति का निर्माण करने हेतु इन तीन प्रक्रियाओ को साधने के लिए विविध शिक्षा संस्थान, सामाजिक पद्धति एव शासन के विधि निषेधा को अपनाया जाता है।

भारतीय संस्कृति म उपर्युक्त तीनो अगो को अधर्मवर्जन, धर्मअभ्यास और धर्मानुकूलता ही अर्थ काम के अर्जन व उपयोग के द्वारा अपनाना रूप मे निहित है। यह भारतीय ऋषियो का जीवन दर्शन है जिसमे धर्म मानव जीवन विज्ञान का महत्त्वतम तत्त्व है और संस्कृति की आधारशिला।

भारतीय जीवन दर्शन के अनुसार मानव का विकास चार आश्रमो[२] म पूर्ण

---

१ स्वामी ईश्वरानन्द गिरि, तरु संस्कृति, पृ० १९।

२ ब्रह्मचर्य, गृहस्थ वानप्रस्थ और सन्यास।

होता है'''आश्रमकर्म साधक के वैयक्तिक संचालन पर निर्भर होते हुए भी समाज की चार पुष्ट परम्पराओं से शासित है, जिन्हें राष्ट्र की चार सांस्कृतिक धाराएं कह सकते हैं। ब्रह्मचर्य आश्रम का आधार गुरुकुल है, गृहस्थाश्रम का पितृकुल, वानप्रस्थ का देवकुल और संन्यासाश्रम का आत्मकुल। व्यक्ति की भीतरी प्रकृति का मनोवैज्ञानिक विश्लेषण करने पर विदित होता है कि उसमें क्रिया, इच्छा और ज्ञान—ये तीन शक्तियां प्रधान हैं। इनकी अभिव्यक्ति और परिष्कार समाज के प्रवाह से पोषित संस्थाओं के बिना सम्भव नहीं। भारतीय संस्कृति में इन परम्पराओं को गुरु पितृ और देव रूपों में मूर्तिमान कर के रक्खा है—व्यक्ति इन तीनों को अपनाते हुए विकसित होकर अपने आत्मपद की पूर्णता को प्राप्त कर लेता है। उसकी यह वैयक्तिक मुक्ति पुन: गुरु, पिता, आत्मा रूप से प्रवाहित होकर एक सामाजिक उपलब्धि बन जाती है।' अतः पुत्र पिता बनता है, शिष्य गुरु और मानव स्वयं एक दिव्य आत्म तत्त्व। भारतीय शास्त्रों में ऋषि-ऋण, पितृ-ऋण और देव-ऋण मानव के सिर पर जन्म से ही होते हैं। इन ऋणों को उतारने हेतु क्रमश: स्वाध्याय आदि शिक्षणकार्य, आतिथ्य, दान आदि धर्म कार्य एवं यज्ञ स्तवन आदि उपक्रम होकर ही मानव विद्यावान, देवकार्य विहित हैं। इन तीनों ऋणों से कुलवान और आत्मवान सिद्ध होता है। ऐसे आत्मवान् को ही समाज अपने एक वांछनीय सदस्य रूप में स्वीकारता है। गुरु-पितृ-देवकुल सेवाओं से वंचित वैयक्तिक जीवन समाज का शोषण बनकर अन्ततोगत्वा दिव्य आत्मसंस्कारों से हीन हो स्वयं भी शून्य जाता है। इन तीनों सेवाओं में निष्ठा एवं सेवाविरुद्ध वैयक्तिक कामना के त्याग को ही 'तप' कहते हैं। हमारी संस्कृति में 'तप' यज्ञ और 'योग' आदि क्रियाओं के कृत्यों और स्वरूपों को न समझने के कारण इन्हें ढोंग मानकर गृहस्थ जीवन से विरत होकर सम्पन्न होने वाली माना जाने लगा है—वह भी सामान्य व्यक्ति के बस की बात नहीं, ऐसा समझा जाता है। शास्त्रों के सार को ही सन्तों की वाणी में तथा शास्त्र-वेत्ताओं द्वारा रचित बोधगम्य सरस साहित्य में पढ़कर हृदयंगम किया जाए तो हम अपने शास्त्रविहित कर्तव्यों को पहचानकर जीवन की सार्थकता प्राप्त करते हुए समाज और राष्ट्र के लिए उपयोगी सिद्ध हो सकते हैं।

मानव विकास की त्रिमूर्ती यज्ञ-दान-तप के माध्यम की संस्कृति निर्दिष्ट गई है। गीता में कहा है यज्ञ, दान, तप मनुष्य को पाप से बचाने वाले साधन हैं। इन्हें मनुष्य को कभी नहीं छोड़ना चाहिए—

"यज्ञ दान तप कर्म न त्याज्यमेव तत्।
यज्ञो दान तपश्चैव पावनानि मनीषिणाम्॥"[1]

---

१ गीता, १८-५।

यज्ञ-दान-तप तरु (वृक्ष) की भांति (तरुण) युवक का स्वभावसिद्ध धर्म बताया है जो बुद्धिमान मनुष्यो को पवित्र करने वाले हैं और मानव को जीवन की पूर्ण सफलता की ओर ले जाते है।

भारतीय संस्कृति मे ऋषियो के मानस से स्फुरित मन्त्रो मे इतनी शक्ति और प्रभाव होता था कि विशिष्ट मन्त्रोच्चारण से विशिष्ट परिस्थितियों मे मनोवाछित फल की प्राप्ति होती थी परन्तु कब जबकि मन्त्रोच्चारण करने वाले के हृदय मे पूर्ण आस्था हो, उसका हृदय और मन शुद्ध हो। योद्धाओ के हथियारो मे तपोबल से दिव्य शक्ति स्फुरित हो जाती थी, सैनिक विद्या मे दक्षता के साथ-साथ योद्धा लोग अपने तपोबल की दिव्य शक्ति को समन्वित करके युद्ध मे विजयी होते थे। मन्त्रोच्चारण से उद्भूत शक्ति पर नैतिकता का नियन्त्रण रहता था कि निरपराध लोगो का सहार न होने पाए क्योकि सदा से भारत की युद्ध-नीति दुष्टों का सहार करने की ही रही है। आततायियो से देश की रक्षा हेतु युद्ध होते थे, सात्विक वृत्ति से राजाओ पर आतक जमाने को नही।

भारतीय संस्कृति का इतिहास चार बडी क्रातियो का इतिहास है। भारत समय-समय पर बाहर से आने वालो अनेक जातियो एव अनेक वशो की सम्मिलित भूमि रही है और भारतीय संस्कृति अपनी उदारता और विशालतावश सभी की संस्कृतियो के स्पृहणीय तत्त्वो को आत्मसात् करती रही है। यद्यपि उसमे प्रधानता ऋषि-मुनियो से प्राप्त अक्षुण्ण वैदिक संस्कृति की रही, जो अपने ऊपर कथित सूक्ष्मता गहन अर्थवत्ता, रसमयता एव अखडता आदि अनुपम गुणो के कारण विश्व भर मे व्यापक बनती गई और अनेको प्रहारो को सहकर भी आज तक विश्व-वन्दनीय बनी हुई है।

श्री रामधारी सिंह दिनकर ने भारतीय संस्कृति मे चार बडी क्रातियो का वर्णन करके अपनी कृति का नाम ही रक्खा है—संस्कृति के चार अध्याय। ये चार क्रातिया उन्होने बताए हैं—

(१) प्रथम क्राति आयी जब आर्य भारत मे आये अथवा आर्येतर जातियो से भारतवर्ष मे उनका सम्पर्क हुआ।

(२) दूसरी क्राति महावीर और बुद्ध के अवतरण पर हुई जब वे उपनिषदो की विचारधारा को खीचकर अपनी मनोवाछित दिशा की ओर ले गये। बुद्ध की करुणा और महावीर की अहिंसा प्रधानता के तत्त्वो को हिंदू संस्कृति ने हृदयगम किया परन्तु, इस क्राति के सरोवर मे शैवालों के उत्पन्न हो जाने से जल गदला और उथल-पुथल होने लगा।

(३) तीसरी क्राति जब हुई जब विजेताओ के रूप मे इस्लाम भारत पहुचा और हिंदुत्व के साथ उसका सम्पर्क हुआ।

(४) चौथी क्राति हमारे अपने समय मे हुई जब योरोप का आगमन हुआ और हमारी सस्कृति प्रशासक वर्ग की पाश्चात्य सभ्यता के सम्पर्क में आयी। इस सम्पर्क से कुछ लाभ भी हुए। जीवन और जगत को देखने का दृष्टिकोण विशाल हुआ, अपनी सस्कृति म बीज रूप मे वपित सस्कारो को समृद्ध बनाकर व्यापक रूप देने का सुअवर मिला—परन्तु यह लाभ उठाने वाले विवेकानद योगी अरविन्द एव रामतीर्थ जैसे सस्कृतिप्रेमी और राष्ट्रप्रेमी बिरले ही थे—सामान्यत' भारतवासी पाश्चात्य सभ्यता से प्रभावित होकर उसके खान-पान, वेश-भूषा, आचार-विचारो को अपनाने लगे और उस सभ्यता की क्षणिक सुख-सुविधाए देने वाली चमचमाहट मे अपनी सस्कृति के शाश्वत कल्याणकारी तत्वो को भुलाने लगे जिसका दुखद परिणाम हम आज तक भोग रहे हैं।

भारत की सस्कृति आरम्भ से ही सामाजिक रही है। उत्तर-दक्षिण, पूर्व-पश्चिम, देश मे जितने हिन्दू बसते है उनकी सस्कृति एक है एव भारत की प्रत्येक क्षेत्रीय विशेपता हमारी सामाजिक सस्कृति की विशेषता है।

भारतीय सस्कृति मे अनेक जातियो का अशदान है। यह सस्कृति 'दिनकर' जी के शब्दो मे 'रसायन' प्रक्रिया से तैयार हुई है, एव उसके भीतर अनेक औपधियो का रस समाहित है।' आगे आप लिखते है —

'समन्वय का उदाहरण चीटिया भी उपस्थित करती हैं, परन्तु भारत म समन्वय की प्रक्रिया चीटियो की नही, मधु-मक्खियो की प्रक्रिया रही है। भारतीय सस्कृति अनेक सस्कृतियो से बना हुआ मधु है, और यद्यपि उसके ऊपर आर्यों का लेबल बहुत स्पष्ट है, किन्तु आर्यों का महत्त्व उतना ही है जितना मधु-निर्माण म मधु-मक्खियो का होता है।'[1]

हिन्दू सस्कृति ने अनेक सस्कृतियो का पीकर अपनी शक्ति बढाई और अपनी इस विशेपता के कारण यह सस्कृति विश्वजनीन बनी। इस विशेषता को लोग बडे विस्मय से देखते हैं। सुप्रसिद्ध इतिहासकार मिण्डाइवेल ने लिखा है 'भारतीय सस्कृति महासमुद्र के समान है, जिसमे अनेक सस्कृति रूपी नदिया आकर विलीन होती रही हैं।'

भारत के प्रथम प्रधानमत्री प० नेहरू ने भी लिखा है, 'ईरानी और यूनानी लोग, पार्थियन और बैक्ट्रियन लोग, सीथियन और हूण लोग, मुसलमानो से पहले आने वाल तुर्क और ईसा की आरम्भिक सदियो म आने वाले ईसाई, यहूदी और पारसी, ये सब के सब एक के बाद एक भारत मे आये और उनके आने से समाज ने एक कम्पन का भी अनुभव किया, मगर अत मे वे सब भारतीय संस्कृति

---

१. सस्कृति के चार अध्याय पृ० ३-४।

के महासमुद्र मे विलीन हो गय, उनका कोई अलग अस्तित्व नही बचा।'

यह है भारत की विशाल सस्कृति का गहन विश्वजनीन स्वरूप।

मैक्समूलर आदि प्रभुत्वशाली विदेशी विद्वानो द्वारा की हुई भारतीय सस्कृति की सराहना का उल्लेख इस निबध मे अन्यत्र हुआ हो है। कई अन्य विश्व विख्यात विचारको ने भी भारतीय सस्कृति की समन्वयकारी विशेषता की मुक्त कण्ठ से प्रशसा की है। मि० सी० ई० एम० जोड न लिखा है, 'भारतवासियों ने मानव जाति को जो सबसे बडी चीज वरदान के रूप म दी है, वह यह है कि भारतवासी हमेशा ही अनेक जातियो के लोगो और अनक प्रकार के विचारों के बीच समन्वय स्थापित करने को तैयार रह हैं और सभी प्रकार की विविधताओ क बीच एकता कायम करने की उनकी लियाकत और ताकत का जवाब रही है।' मि० जोड ने भारत की इस योग्यता को विश्व मानवता के लिए सबसे बडा वरदान कहा है।

ऋषियो ने जिस शाश्वत ओजस्वी वेदवाणी मे प्रकट होकर मानव को एक अमर धर्मानुशासन दिया वह वेद नाम से प्रसिद्ध है और हमारा धर्म वैदिक है। समस्त भारत को एक सूत्र मे बाधकर आज तक उज्जीवित व आरोह-पथ पर अग्रसर रखने वाली मूलभूत प्राणशक्ति वेदान्त ही है। वेदान्त की प्ररणा से ही समय-समय पर हुए विदेशी सस्कृतियो क आक्रमणा का सहन करके अपने आद्य स्वरूप को अक्षुण्ण रख सकी और आगे भी वैज्ञानिक कुठाराघातो का स्वागत करती हुई यह महान सस्कृति उन नये आविष्कारो के मानवहितकारी तत्वो को ग्रहण करके उनके साथ सामजस्य स्थापित करने मे समर्थ होगी।

'सत्, चित्, आनन्द' की पूर्णाभिव्यक्ति भारतीय शक्ति की महिमा है—इसी कारण यह सस्कृति मानव मात्र के लिए स्वीकार्य बनी हुई विश्वजनीन सस्कृति मानी जाती है। 'सत् चित् आनन्द' की अभिव्यक्ति ही एक मात्र जीवन तात्पर्य है और यही सस्कृति की परिभाषा मानी जानी चाहिए जो भारतीय सस्कृति मे पूर्ण रूपेण विद्यमान है।

२
राजनीति, अर्थशास्त्र एवं सामाजिक व्यवस्था

राजनीति व्यक्तियो की सामूहिक व्यवस्था का चिंतन है। पाश्चात्य राजनीति का प्रारम्भ यूनानियो से माना जाता है। किन्तु भारतीय चिंतन उससे भी पुरातन है। राजनीति के धार्मिक आधार के कारण प्राय यही धारणा बनी रही कि प्राचीन भारत मे धर्म और दर्शन की प्रधानता रही। किन्तु सत्य यह है कि यहा धर्म और दर्शन के साथ राजनीति का चिंतन भी बडा गहन था।

वैदिक साहित्य मे राजनीति का चिंतन धार्मिक ग्रन्थो के संदर्भ मे ही मिलता है, इस विचारधारा की पाच प्रमुख अन्तर्धारायें हैं जिनके कारण प्राचीन भारत का राजनीतिक चिंतन सार्वकालिक कहा जा सकेगा। प्रथम लक्षण आध्यात्मिकता की पृष्ठभूमि है। समस्त चिंतन इस विश्वास पर टिका हुआ है कि सृष्टि का एक उद्देश्य है जिसको प्राप्त करने मे किसी शक्ति का योग है, तथा जो उद्देश्य से पतित होने वालो को दड देती है। इस लक्षण के फलस्वरूप राजनीति विकृत जीवन का रूप न होकर उदात्त आदर्शों की प्राप्ति का साधन बन जाती है। इसका स्पष्टीकरण राजा के आदर्शों अथवा उसके स्वरूप से हो जाता है। राजा का पद दैविक था, राजा व्यक्तिगत रूप से नही। देवत्व की धारणा राजा, प्रजा को दिशा देने के लिए थी। राजा निरकुश नही हो सकता था।

दूसरा लक्षण क्रमिकता है। इस विचारधारा का लगभग ३००० वर्षों मे उद्भव चरमतम विकास एव उसका अपकर्ष हुआ। यजुर्वेद संहिता से विकास प्रारम्भ हुआ। राजा का स्थान, राज्य का कार्य-क्षेत्र, धर्म और कानून आदि की धारणायें निर्मित हुईं। अर्थशास्त्र तथा स्मृतिकाल मे चरमोत्कर्ष तक इन मूल विचारो का विकास हुआ। उसके पश्चात् आठवी शताब्दी के शुक्रनीति के समय इन विचारो मे कोई अग्रगामी गति न रही। ऐसा लगा कि चिंतन अपनी पूर्व परिपक्वावस्था तक पहुच चुका था। इस प्रकार प्राचीन भारत की राजनीतिक *विचारधारा अपने ढग की पूर्ण विकसित चिंतनधारा है।*

तीसरा लक्षण मानवतावादी बुद्धिवाद है। मनुष्य ने अपनी चिंतन शक्ति पर बल देकर शुद्ध राजनीतिक विचारो का निरूपण किया है। इस दृष्टि ने भारत मे दडनीति को अरस्तु से बहुत अधिक पूर्व एक स्वतन्त्र विधा को स्थान दिया था।

आन्वीक्षकत्रयी और वार्ता आदि विधाओं का आधार दंडनीति को ही कहा गया। आन्वीक्षकी से तात्पर्य दर्शन से है। त्रयी से अर्थ तीन वेदों से है और वार्ता का अर्थ कृषि से है। तीनों विधाओं का महत्त्व बहुत अधिक है, किन्तु इन सबकी श्रेष्ठता तभी संभव है जबकि दंड की व्यवस्था हो। महाभारत के शांति पर्व में स्पष्ट कहा गया है कि राजा के न होने से मत्स्य न्याय फैल जाता है, वर्णाश्रम धर्म गिर जाता है। सारी व्यवस्था अस्तव्यस्त हो जाती है। सोमदेव ने अपने ग्रन्थ में जैन तीर्थंकर को नमस्कार न कर राज्य को नमस्कार से अपना ग्रन्थ प्रारम्भ किया है। बौद्ध साहित्य में राजनीति को दुखमय विज्ञान माना है। किन्तु अर्थशास्त्र के विचारकों ने राजोचित को शास्त्र माना है। धर्मशास्त्र और अर्थशास्त्र सभी ने राजनीति को महत्त्वपूर्ण मानकर उस पर विचार किया है। साहित्य के सभी क्षेत्रों में राजनीति पर विवेचन मिलता है। इससे स्पष्ट है कि राजनीति मनुष्य के बौद्धिक चिंतन का विषय रहा है।

चौथा लक्षण समन्वयवादी दृष्टिकोण है। प्रत्येक मत के सौम्य एवं उग्र पक्षों का विकास हुआ और अंत में समन्वित रूप में अंगीकार किए गए। उदाहरण के लिए भौतिकवादी एवं आध्यात्मवादी दृष्टियों में किसी को भी एकांगी रूप में स्थान नहीं दिया गया। धर्म और मोक्ष के मध्य काम और अर्थ की वृद्धि के लक्ष्य को लिया गया। भौतिकवादी दृष्टि से एक ओर भौतिकवादी विचार था कि पृथ्वी भोगमात्र के लिए है दूसरी ओर उपनिषदों का दर्शन था कि 'ब्रह्म सत्य जगत् मिथ्या' ब्रह्म सत्य है जगत् मिथ्या है। भारतीय राजनीति में दोनों का समन्वय है। राजा का धर्म वर्णाश्रम-व्यवस्था की रक्षा करनी है, किन्तु उसका धर्म राजधर्म है। उसकी नैतिकता व्यक्ति या सामाजिक नैतिकता से भिन्न है।

पांचवा दृष्टिकोण राजनीति में सिद्धान्त व व्यवहार की संगति है। प्लेटो या अरस्तु की भांति भारतीय राजनीतिक विचारकों को कल्पनावादी नहीं बनना पड़ा, वे सक्रिय व्यवस्था के परामर्शदाता एवं संरक्षक के रूप में विचारक थे। कौटिल्य का अर्थशास्त्र मौर्य साम्राज्य की आधारशिला के रूप में सामने आता है। स्मृतिकारों के उपदेश वास्तविक परिस्थितियों की व्याख्या हुआ करते थे।

राजनीति के इन लक्षणों को दृष्टि में रखते हुए प्राचीन भारतीय समाज एवं राजनैतिक व्यवस्था के स्वरूप को आंकने पर विदित होता है कि भारतीय राजनीति का आधार भी मुख्यतः धर्म और अध्यात्म था। धर्म के आधार पर चातुर्वर्ण्य व्यवस्था[1] के पालन से ही राज्य के कर्तव्यों का पालन सफल राजनीति का लक्षण था, किन्तु जातिवाद की कट्टरता कहीं भी परिलक्षित नहीं हुई।

भारत में गुण और प्रकृति के अनुसार चातुर्वर्ण्य व्यवस्था बनी जिसके आधार

---

१ चातुर्वर्ण्यं मया सृष्टं गुण कर्म विभागशः, गीता ४-१३।

साहित्य म तीन सभाए पायी जाती हैं, विदथ, सभा और समिति। सम्भवत विदय विद्वानो की मण्डली होती थी, सभा ग्रामवासियो की और समिति राज्य की (पार्लियामेट)।

मत्रियो की पार्लियामट जन-जीवन का अध्ययन करके उनकी आवश्यकतानुसार आर्थिक, सामाजिक, कृषि और व्यापार सम्बन्धी मामलो की व्यवस्था सीध अथवा ग्राम व नगर पचायतो की छोटी-छोटी सभाओ की सहायता से करती थी। विधान सभा पर दृष्टि रखने के लिए एक साधारण सभा (जनरल असम्बली) होती था जिसम सभी वर्गों एव राज्य भर के प्रतिनिधि सदस्य होते थे। इन दोनो के निश्चित अधिकार थ। यदि राजा या उसकी राज्य सभा नियम विरुद्ध अथवा प्रजा के हित क विरुद्ध काय करे तो उसे राक सके। यह सभा राजा को गद्दी से हटाकर दूसरे को बिठाने का भी निर्णय ल सकती थी। राजा और प्रजा दोनो को धर्म का अकुश माना जाता था।

श्रीमद्भागवत् गीता मे भी प्राचीन भारतीय राजनीति का दिग्दर्शन मिलता है। स्वामी महेशानन्द गिरि ने अपने ग्रन्थ 'गीता प्रवेश' म वासुदेव कृष्ण के राजनैतिक दृष्टिकोण का भली प्रकार विश्लेषण किया है।[1] आप लिखत है कि वासुदेव कृष्ण स्वय क्षत्रिय एव राजपूत होने क नात महत्तम राजनीतिज्ञ थ और अर्जुन भी राजनीति-कुशल था। कृष्ण सभी योगो को उत्पन्न एव नियत्रण करन वाले है तथा अर्जुन शस्त्रधारी है। जहा योग एव शस्त्र दोनो का सम्बन्ध होना है वह राजनीति सफल है। यही सक्षेप म गीता की राजनीति है। जैसा कि गीता के अतिम अध्याय म कहा है—

'यत्र योगेश्वर कृष्ण यत्र पार्थो धनुर्धर ।
तत्र श्रीर्विजयो भूतिर्ध्रुवा नीतिर्मतिर्मम' ॥

सब लोगों को उत्पन्न करके जिस प्रकार वासुदेव कृष्ण ने व्यवहार किया वैसा ही राजनीतिज्ञ का व्यवहार होना चाहिए। राज्य शब्द का अर्थ किसी को प्रसन्न करना होता है अत प्रजा को प्रसन्न करने के कारण ही राजा को राजा कहा जाता है। प्रजा को प्रसन्न करने हेतु जिन साधनो का अवलम्बन लिया जाता है वही हमारे प्राचीन ग्रन्थो म राजनीति मानी गयी है। राजा या अन्य कोई भी अपनी कार्यसिद्धि के लिए स्वार्थप्रेरित होकर चालाकी आदि बरतता है उसे कूटनीतिज्ञ कहा जाता है।

राजनीति का आधार 'स्व' एव 'पर' का भेद है?

जिस अपनी प्रजा माना वह 'स्व' हो गया। उसकी सदा उन्नति करना, उसके साथ सदा सच्चाई बरतना राज अथवा प्रशासक का कर्तव्य है। इस 'स्व' से भिन्न

१ गीताप्रवेश, स्वामी महेशानन्द गिरि।

जो 'पर' हुआ उसके प्रति वह अपनी प्रजा के हित की दृष्टि से कूटनीति का भी उपयोग कर सकता है। परन्तु 'स्व' प्रजा के साथ कूटनीति वहा अपनायी जाती है जहा राजा का व्यक्तिगत स्वार्थ होता है राजनीति वहा है जहा राष्ट्रगत स्वार्थ है।

जो काम पर' के लिए प्रयुक्त किया जाना चाहिए वह स्व' के लिए गलत है और जो स्वकीयो के लिए प्रयुक्त होना चाहिए वह पर के लिए भी गलत है।

अग्रेजो ने इग्लैंड मे एकता कायम रखने की नीति को अपनाया। उपनिवेशो म (भारत आदि) भेद भाव बढाकर फूट डालने के लिए कूटनीति का सहारा लिया था। महाभारत म भी अनेक जगह 'स्व' 'पर' का भेद मिलता है, पर वह प्रजा के हित म व्यवहृत हुआ है, व्यक्तिगत स्वार्थ के लिए नही।

'स्व' 'पर'—का यह भेद कृष्ण की राजनीति का एक प्रधान अग है जो समझा जाने योग्य है।

अपने राष्ट्र म दूसरा किसी प्रकार की 'स्व' बुद्धि न उत्पन्न कर सके ऐसी एकता का आधार बनना चाहिए। विचार और क्रिया के योग से राजनीति सफल होती है। अत योगेश्वर कृष्ण के साथ धनुषधारी अर्जुन का होना ज्ञान और क्रिया का प्रतीक है ज्ञान के बिना क्रिया विजय नही पा सकती एव क्रिया के बिना ज्ञान विचार मात्र रहकर समुद्र के बुलबुले की भाति समाप्त हो जाता है। विश्व केवल विचारको का समाज नही है। जहा विचार से काम नही चले वहा शस्त्र का प्रयोग अत्यन्त आवश्यक है। दुर्योधन को बहुत समझाया न मानने पर सब प्रकार से छल-बल से काम लेना पडा। छली को छल से मारना भारतीय राजनीति म दोष नही माना जाता। अत स्वय भगवान राम को भी छिपकर बलि को मारना पड़ा था।

वर्तमान भारत की आर्थिक व्यवस्था के ह्रास का ज्ञान और क्रिया का सम्बन्ध न होना ही माना जायेगा। कृष्ण की दृष्टि म योग के द्वारा जो धन व ऐश्वर्य प्राप्त होता है वह निश्चल होता है। केवल शस्त्र के द्वारा जो राज्य प्राप्त किया जाता है वह ज्यादा समय तक रखा नही जा सकता इसलिए शस्त्र के बल से राज्य का विस्तार करना हमारी राजनीति का उद्देश्य नही रहा। सैनिक शक्ति का उपयोग भी आक्रमणकारियो से देश की रक्षा करने के लिए किया जाता रहा है। इसलिए किसी भी राजनीति मे वैचारिक निश्चितता होनी चाहिए। जहा ज्ञान और क्रिया का सम्बन्ध होता है वहा मूल नीति जल्दी जल्दी नही बदलती। क्योकि जल्दी-जल्दी बदलने वाली नीति मे किसी का भी तादात्म्य सम्बन्ध नही हो पाता।

गीता की राजनीति का सूत्र है—ज्ञान और क्रिया को मिलाकर ध्रुवानीति के निर्माण द्वारा ही विजय, श्री और भूति की प्राप्ति हो सकती है। ' विचार क्रिया मे परिणत करने के लिए पराक्रम और शौर्य होना आवश्यक है इसलिए

शौर्य राजा का प्रथम धर्म माना गया है। साथ ही धैर्य, उत्साह और दानशीलता भारतीय राजनीति मे राजा के सर्वोपरि गुण हैं—जिनके बल से वह प्रजा का हित चितक बना हुआ सफल प्रशासक सिद्ध होता था। गीता म सात्विक कर्ता के गुण बताते हुए कहा है—

मुक्तसगोऽनहवादी धृत्युत्साह समन्वित ।
सिद्ध्यसिद्ध्योर्निर्विकार कर्ता सात्विक उच्यते ॥ १८-२६

राजा धर्म का रक्षक और प्रशासक होता था। राजनैतिक प्रशासक परिषद और सभा का मुख्य कर्त्तव्य था सामाजिक जीवन के कानून की अनुपालना। सामाजिक कर्तव्य मे ही जीवन की आर्थिक व अन्य आवश्यकताओ की तुष्टि सम्मिलित थी।

सभी राजनैतिक व सामाजिक कार्यकर्त्ताओ के अपने पद व प्रकृति के अनुसार कर्त्तव्य निर्धारित थे— सभी धर्म सीमाओ मे स्वेच्छा से अपने कर्त्तव्य रूप धर्म का पालन करते थे। किसी को अपने अधिकारो से परे जाकर दूसरो के कामो मे हस्तक्षेप करने की स्वतन्त्रता नही थी। इस सब पर नजर रखना राजा का कर्त्तव्य था जो नगर परिषदो की सहायता से करता था।

राज्य के प्रशासक को यह अधिकार नही था कि वह जाति धर्म, ग्राम समितियो नागरिकता आदि के स्वतत्र सचालन म हस्तक्षेप करे क्योकि सामाजिक धर्म के समुचित पालन के लिए यह स्वाभाविक और आवश्यक था, जातीय जीवन का अर्थ व राजनीतिक पक्ष धर्म के ही अग थे, जो सामाजिक जीवन के उच्च सांस्कृतिक लक्ष्य से जुड़ा हुआ था, अलग नही।

वैदिक और पौराणिक काल के बाद वाले मध्य काल म भारत की राजनीति का प्रजातान्त्रिक स्वरूप इस प्रकार का था, जब जन जीवन पर किसी का दबाव नही था, न ही किसी एक वर्ग या जाति की प्रधानता थी। प्राचीन काल के प्रशासनीय सिद्धान्त सुरक्षित थे जिसम ससद के सभी सदस्य समान रूप से सक्रिय भाग ले सकते थे। ग्रीक और रोम जैसा नाम का प्रजातन्त्र यहा कभी नही हुआ जिससे एकतन्त्र राज्य का आभास मिले।

हा, युद्ध के समय महाभारत में क्षत्रिय वर्ग की प्रधानता का दिग्दर्शन होता है, बाद म भी राजपूताना राज्य मे जिसका प्रभाव शेष रहा—परन्तु यह राजनीतिक तन्त्र का अस्थायी स्वरूप था, चातुर्वण्य व्यवस्था के कारण नही।

राजनैतिक ढाचे का पूरा तन्त्र तीन प्रशासनीय सभाओ से बना हुआ था, मत्री परिषद प्रशासन परिषद (?) और राज्य की साधारण सभा, सभा के सदस्य एव मत्री प्रजा के सभी वर्गो से लिये जाते थे। कौंसिल मे हर वर्ग के प्रतिनिधि निश्चित सख्या म होते थे। प्रत्येक वर्ग की जनसख्या के आधार पर इनका अनुपात निश्चित होता था। प्रारम्भिक काल मे वैश्य वर्ण म व्यापारी,

उद्योग चर्मकार, कृषक वर्ग और पूजी आदि सभी सम्मिलित थे इसलिए य बडी सख्या म थे। कालान्तर मे चातुर्वर्ण्य के अतिरिक्त ग्राम-वासी, नगरवासी आदि वर्ग-भेद उत्पन्न हो गय परन्तु राजनैतिक तन्त्र म अलग-अलग वर्गों के साथ भेद-नीति का व्यवहार नहीं था।

भारतीय गावो मे सामान्यत खेती का व्यवसाय था, परन्तु ग्रामवासी सब विभागो की धार्मिक, सामाजिक, सैनिक और राजनैतिक समितिया बना लेते थे, उनके प्रतिनिधियो की एक बृहत्सभा होती थी जो राजा के सरक्षण मे शासन करती थी।

शुद्ध आध्यात्मिक सत्ता का निर्माण करने के लिए एक धार्मिक वर्ग बन गया। ये भी साम्प्रदायिक रूप था। मूलत वैदिक काल मे पूरा समाज एक ही धर्म वाला था, अलग धार्मिक वर्ग के अस्तित्व की आवश्यकता ही नहीं थी, पर धीरे-धीरे बौद्ध और जैन धर्मों के प्रकाश मे आने से धर्म मण्डल बनने लग, बुद्ध ने धर्म-सघ की स्थापना की, ये लोग राजनीति मे भी अपना स्थान बनाने लगे,ये लोग भी आर्यों की तरह अपने मामलो को सम्भालते थे। ये धर्म सम्बन्धी मामलो पर बहस करके वोट पद्धति से निर्णय लेते थे। यह पद्धति कट्टर हिंदुओ ने भी अपना ली, परन्तु कोई व्यवस्थित सस्था रूप मे नहीं। ये धर्म-जातिया प्राचीन कट्टर ब्राह्मणवाद के विरुद्ध विकसित होने लगी जैसा शकराचार्य द्वारा प्रचलित मत म---परन्तु इन्होंने कोई राजनैतिक स्थिति को प्राप्त करने का प्रयत्न नही किया। भारतीय राजनीति के इतिहास मे राज्य और धर्म के बीच सघर्ष कभी नहीं हुआ।

इस प्रकार यह स्पष्ट है कि प्राचीन भारत के सामाजिक एव राजनैतिक जीवन मे मूल रूप से स्वत निर्मित जातीय सगठन रूप स्वायत्त शासन ही रहा। यद्यपि वैधानिक रूप से प्रजातात्रिक सरकार नही बनती थी, परन्तु राज्य की पद्धति पूर्ण रूपेण प्रजातात्रिक थी अर्थात् धर्म के आधार पर होने वाला शासन सर्वथा प्रजा के हित मे था और अहित का आभास होने पर प्रजा को राज्य सत्ता बदलने का भी अधिकार था।

सास्कृतिक दृष्टि से उन्नीसवीं शताब्दी भारतीय सस्कृति, मुख्यत उसके धर्म और दर्शन के पुनर्जागरण का काल है। आधुनिक काल मे हमारे राष्ट्र का जागरण धार्मिक आन्दोलनो से प्रारम्भ हुआ और इसी मे भारत यूरोप का विचारगत सम्पर्क हुआ जिसका प्रभाव राजा राममोहन राय महर्षि दयानन्द द्वारा स्थापित ब्रह्म समाज तथा आर्य समाज आदि सस्थाओ मे दर्शनीय है जिनका लक्ष्य समाज-सुधार व रूढिगत अधविश्वासो का निराकरण था। हिन्दू धर्म के रहस्यवादी पक्ष के समर्थन म भी सोसाइटी की स्थापना हुई। इसी समय श्रीरामकृष्ण परमहस का अवतरण हुआ, यह वेदात के व्यावहारिक पक्ष का उपदेश व प्रचार कर रहे थ, उनके शिष्य स्वामी विवेकानन्द ने रामकृष्ण मिशन की स्थापना करन

के साथ हिन्दू संस्कृति तथा भारतीय संस्कृति के व्यावहारिक पक्ष को प्रभावित किया और विदेशों में भी उनकी वाणी मुखरित होकर वहां के निवासियों को प्रभावित करने लगी।

इन आन्दोलनों के फलस्वरूप भारतीय जनता में जो आत्म-गौरव के भावों की वृद्धि हुई उससे देश को स्वतन्त्रता के लिए लड़ने की प्रेरणा मिली, अर्थात् उसका भरपूर उपयोग राजनैतिक धरातल पर हुआ। लोकमान्य तिलक ने गीता की कर्मपरक व्याख्या की और गांधीजी ने अनासक्तियोग नाम से गीता पर अपने विचार दिये, गांधीजी धर्म और राजनीति को समन्वित करने के पक्षपाती थे, स्वयं उनके जीवन में भी दोनों का सम्मिश्रण था।[1]

श्री अरविन्द भी प्रारम्भ में आतंकवादी राजनैतिक नेता थे, बाद में वे भारतीय संस्कारों के फलस्वरूप दार्शनिक और योगी बन गये। इस सबसे प्रकट है कि १९वीं शताब्दी में प्रारम्भ हुए भारत के सांस्कृतिक नव-जागरण ने देश को स्वतन्त्र बनाने में महत्त्वपूर्ण योग दिया, इसकी पृष्ठभूमि में एक कारण यह था कि भारतीय जनता धर्म की भाषा को स्वाभाविक रूप से समझने की अभ्यस्त बन गयी थी, और उसे धर्म के नाम पर संगठित करना अपेक्षाकृत सरल था।

योगी अरविन्द ने भारतीय संस्कृति में समाज एवं राजनीतिक विकास के चार स्तर बताये हैं।[2]

१ साधारण आर्य जाति का काल।
२ वह दीर्घकाल जबकि राष्ट्रीय जीवन राजनैतिक ढांचा बनाने में अग्रसर होता हुआ अनेक अनुभव कर रहा था।
३ वह समय जब निश्चित एकतंत्र राज्य की स्थापना हो चुकी थी जिसमें लोगों की जातीय जीवन के सभी अंगों में सामंजस्य स्थापित करके क्षत्रीय तथा राज्य स्तर पर समन्वित रूप तैयार हुआ।
४ अंतिम वह गिरावट का काल है जिसमें पश्चिम देशों—एशिया और योरप से आयी हुई सभ्यता को थोपा जाने से भीतरी दबाव और आतंक होने लगा था। भारतीय राजनीति में प्रथम तीन रूप इतने दृढ़ आध्यात्मिक और संगठित जीवन आधार पर बने हुए थे जिसमें जन-जीवन ने विकासगामी होकर ठोस रूप धारण किया। यह प्राचीन भारतीय समाज व राजनीति की विशिष्टता थी कि पाश्चात्य प्रभावों में उसका आकार नष्ट भ्रष्ट होने पर भी, उसमें यह क्षमता रही कि अवसर पाकर वे स्थायी तत्त्व पुनः जागृत हो सकें। यद्यपि वह राजनैतिक पद्धति लोप हो चुकी है और रहे-सहे तत्त्व भी कुचले जा चुके हैं फिर भी वह सामाजिक भावों

१ डॉ० देवराज, भारतीय संस्कृति, पृ० २९२।
२ Foundations of Indian Culture, p 345

से पूर्ण मानस, व प्रवृत्ति विद्यमान हैं जिसने जनहित के आधार रूप ऐसी दृढ और ठोस राजनीति का निर्माण किया। इतने दीर्घकाल तक जिस राजनीति की जडें जमी रही और जो जीवन की महानता उसके सरक्षण मे बढने वालो मे पायी जाती है वह निश्चय ही भारतीय सस्कृति मे एक अनुपम राजनैतिक प्रवृत्ति और क्षमता की द्योतक है।

भारतीय राजनीति के निर्माण मे सबसे बडा सिद्धात आत्म-अनुशासित सहयोगी जीवन था—केवल सिद्धात मे नहीं बल्कि पूर्णतया व्यवहार मे दर्शनीय था।

कौटिल्य के अर्थशास्त्र मे प्राचीन भारतीय राजनैतिक स्थिति का, राजनैतिक सिद्धातो का सुन्दर वर्णन मिलता है। कौटिल्य, एक महान राजनीतिज्ञ एव अर्थशास्त्री थे। उनका नैतिक सिद्धात चार वर्णों और चार आश्रमो के कर्त्तव्यो का शातिपूर्ण पालन प्रजा द्वारा सम्मानित होता है'''इसलिए भली प्रकार सोच-समझकर दण्ड दिया जाना चाहिए अन्यथा यह मत्स्य न्याय हो जायेगा''। राजा की समुचित शिक्षा और अनुशासन पर उसकी दण्ड देने की शक्ति निर्भर है।

राजा के व्यवहार को समुचित रूप देने के लिए सर्वप्रथम उसे आतरिक षड्रिपुओ पर नियंत्रण आवश्यक है, क्रोध, लोभ, मोह, दम्भ, मद, मात्सर्य।

राजनैतिक व्यवस्था को समुचित रूप देने के लिए कौटिल्य की राजनीति मे मत्रियो की आवश्यकता पर प्रकाश डाला गया है। किन्तु उनकी सख्या सीमित (तीन-चार) होनी चाहिए। मत्रियो की सच्चाई, भक्ति आदि की जाच उपधा पद्धति से की जाती थी। लक्ष्य पूर्ति को दृष्टि मे रखते हुए राजा को मन्त्री चुनने के लिए न्यूनतम मत को भी मानने का अधिकार था। राज्य की व्यवस्था को देखने के लिए गुप्तचर नियुक्त किये जाते थे। जिनके के अधीनस्थ बहुत से चर और शिष्य उप कर्मचारी होते थे जो गुप्त समाचार देते थे। मत्रियो तक पर इन्हें दृष्टि रखनी होती थी।

सैनिक विज्ञान के सम्बन्ध मे कौटिल्य ने लिखा है कि प्राचीन भारत मे छ प्रकार की सेना होती थी। शत्रु के गुप्त समाचार लाने के लिए ऐसे गुप्तचर नियुक्त किये जाते थे जिन्हें शत्रु से वेतन लेने का भी अधिकार था। कौटिल्य अर्थशास्त्र की चौदहवी पुस्तक मे कुछ औषधि के सिद्धान्त दिये हुए हैं जिनसे सैनिक शत्रु के लिए अदृश्य हो सकें और रात्रि के अधकार मे देखने की शक्ति उत्पन्न हो जाये। मनुष्य और पशुओ की नीद आने के लिए प्रभावशाली हो। शत्रु के द्वारा फौज को दी हुई विषैली दवाइयो का प्रभाव दूर करने के उपाय हो।

इस प्रकार कौटिल्य की राजनीति मे सैनिक शिक्षा भी तथ्यपूर्ण और व्यावहारिक उपयोग की पायो जाती है। कौटिल्य ने शास्त्र द्वारा तीन गुणो की स्थापना की है और धन कमाने के गलत तरीको को राज्य के लिए हानिकर

बताया है।

राजा के आवश्यक गुणों को निर्धारित करते हुए कार्य की तत्परता को उन्होंने एक धार्मिक सकल्प के रूप मे माना है। स्वय सच्चाई और ईमानदारी बरतने के साथ अपने प्रमुख कर्मचारियों के चरित्र का निरन्तर जाच करते रहना भी राजा का प्रमुख कर्तव्य था।

वैदिक ऋषियो ने भारतीय जीवन का आधार बनाकर विभिन्न वर्गों के लोगो मे सास्कृतिक एकता स्थापित करना चाहा। जहां अपना मुख्य कर्तव्य समझा था वहा राजनैतिक एकता की आवश्यकता भी इनकी आख से ओझल नही हुई थी। उन्होने राजाओ के अलग-अलग राज्य खण्डों को मिलाकर एक करने के लिए चक्रवर्ती राज्य की स्थापना का नियम बनाया जो अश्वमेध यज्ञ और राजसूय यज्ञो द्वारा होता था। इस आदर्श को पूरा करना राजा का राजनैतिक एव धार्मिक कर्तव्य था। राजा का कर्तव्य था कि पूर्ण सैनिक शक्ति रखकर आन्तरिक शान्ति स्थापित करे और आवश्यकता पडने पर बाहरी शत्रुओ से रक्षा करे। साथ ही उसका कर्तव्य था कि भारतीय धर्म मे सामञ्जस्य बनाये रखकर आध्यात्मिक, धार्मिक, सामाजिक, सस्कृति का समुचित सचालन करे। महाभारत आदि महा पुराणो म इन आदर्शों का समुज्ज्वल स्वरूप पाया जाता है।

युधिष्ठिर ने धर्मराज्य की स्थापना के लिए राजसूय यज्ञ किया। रामायण मे भी ऐसा ही धर्मराज्य का आदर्श मिलता है जहा विध्वसात्मक आक्रमणों से राज्य को बढाने की चेष्टा नही थी जिससे लोगो की राजनैतिक और सामाजिक स्वतन्त्रता मे बाधा पडती और लोगों के आर्थिक साधनो को आघात पहुचता। राष्ट्र और धर्म मे एकता लाने के लिए यज्ञ के द्वारा शक्ति को बढाकर राज्य का विस्तार किया गया था। यहा ऋषियो का लक्ष्य स्पष्ट है। राज्य की विभाजित सैनिक शक्तियो मे एकता स्थापित करने की आवश्यकता को वे समझते थे। किन्तु जनता के स्वतन्त्र सामूहिक जीवन पर प्रहार करके एकतन्त्रीय शासन द्वारा इस लक्ष्य की पूर्ति करना उन्होने उचित नही समझा।

। इस लक्ष्य की पूर्ति हुई या नही इसका कोई ऐतिहासिक प्रमाण नहीं मिलता। परन्तु बाहरी आक्रमणो से धर्म का उच्च आदर्श ढीला पडने लगा। मौर्य एव गुप्त कालीन राजाओ के समय समुद्र पार से आये व्यापारियों के हाथो मे पडकर राजनैतिक सिद्धान्तो का धार्मिक आधार लुप्त हो चला था। हूणो के आक्रमण हुए मुसलमानो के आक्रमण भी एक बार असफल हो गया परन्तु दीर्घकाल तक सघर्ष करते-करते भारतीय धर्म और सस्कृति को धक्का लग चुका था। ऐसे समय म १३वी शताब्दी से पठान, तुर्क और मुगलो ने आकर अपना आधिपत्य जमा लिया।

अकबर-औरगजेब आदि मुगल शासको की धर्म नीति का प्रभाव भारत पर

पड़ा परन्तु फिर भी उस काल मे देश की सैनिक व राज्यशक्ति, अर्थव्यवस्था तथा कला और सस्कृति उच्च शिखर पर थी जो भीतरी फूट के कारण नष्ट हुई। सैनिक और प्रशासनिक केन्द्रीय राज्य का प्रभाव भारत की राजनैतिक एकता पर नही पड सका।

भीतरी फूट के निवारण के लिए मराठा राज्य द्वारा शिवाजी के नेतृत्व म प्रयत्न हुए कि प्राचीन परिस्थिति नय जीवन की नीव बने, परन्तु सफलता नही मिली। पेशवा और सिक्ख खालसा के प्रयत्न भी सार्थक नही हुए, क्योंकि स्थिति काफी बिगड चुकी थी।

अन्त म ब्रिटिश राज्य के आने से भारतीय राजनैतिक पद्धति पर अन्धकार अवश्य छा गया, फिर भी उसे सदा के लिए मिट्टी नही माना जा सकता। इतने सघर्ष और बाहरी प्रभावो को सहकर भी भारतीय सस्कृति म धर्म और अध्यात्म की गहरी जडें जमी हुई हैं जिन्हे कोई शक्ति नहीं निकाल सकती, सामाजिक एकता, सम्मिलित परिवार-प्रथा, ग्राम पचायत प्रणाली, सामूहिक जीवन प्रणाली, भारतीय जन जीवन की रग-रग मे भरा है—तभी क्रान्तद्रष्टा योगी अरविन्द ने भविष्यवाणी की थी कि सारे झझावतो को सहकर भी भारत मरा नहीं है अब भी सम्भावनाए हैं कि अवश्य प्रकाशमय प्रभात होगा, जबकि भारत माता अपनी प्राचीन अविस्मरणीय शक्ति को पुन जाग्रत करके शक्ति और प्रकाश के परम स्रोत अपने धर्म के स्वरूप को प्राप्त करके मस्तक ऊचा करेगी।

अर्थशास्त्र

कौटिल्य के अर्थशास्त्र म राजनीति और अर्थनीति का समन्वित रूप वर्णित है जिसमें राज्य के कर्णधार राजा के लिए सिद्धान्तों का निर्देशन है जिनके आधार पर राज्य की अर्थव्यवस्था सचालन म न्यायपूर्वक अर्थप्राप्ति हो और प्रजा पर अत्याचार अथवा अनावश्यक करों का बोझ न पडे। कौटिल्य के अर्थशास्त्र के ११वें भाग मे राजनीति और अर्थनीति का समन्वित रूप दर्शनीय है तथा अन्तिम १५वें भाग मे केवल अर्थशास्त्र को समझाया है जिसका ज्ञान होना राजा के लिए आवश्यक था। इसने ३२ पारिभाषिक शब्दों (Technical terms) का प्रयोग हुआ है। इस शास्त्र द्वारा धर्म, अर्थ और काम तीन गुणो की स्थापना हेतु धन प्राप्ति के अनुचित कृत्यो का वर्णन हुआ है कि कौन-कौन साधन नही अपनाए जाने चाहिए।

राज्य म खाद्य सामग्री म मिलावट न होने पाए इसलिए कठोर दण्ड का विधान था—विदेशो से नमक आना रोकने के लिए राज्य को भारी कर लगाने का अधिकार था व्यर्थ की वस्तुओं को विदेशों से मगाने का अधिकार नहीं था जो

उपयोगी वस्तुए देश मे उपलब्ध न हों वे जनहित के लिए बिना टैक्स अथवा कम टैक्स से मगाई जा सकती थी । इन सब नियमो की अनुपालना की जाच के लिए दो प्रकार के गुप्तचरो की पद्धति थी । एक जो स्थिर रहकर दृष्टि रखते थे, दूसरे सचारी—घूमने-फिरने वाले—इनके अनेक अधीनस्थ चर होते थे और शिष्य, उपशिष्य जो गुप्त समाचार देते थे । इन्हें मत्रियो तक पर दृष्टि रखनी होती थी ।

इस प्रकार की न्यायसगत, जनहितकारी राज्य की अर्थव्यवस्था का *भारतीय सस्कृति मे विधान था जिसके आधार पर प्रजा सुख-शान्ति से रहती थी ।*

कौटिल्य के अर्थशास्त्र में उद्योग और व्यापार आदि के सिद्धान्त विस्तार से वर्णित हैं जिनके आधार पर अर्थनीति के सचालन से राज्य मे खाद्य पदार्थ एव अन्य आवश्यक वस्तुओ का अभाव न रहे तथा सभी को जीवन-निर्वाह हेतु व्यवसाय मिलता रहे ।

अष्टाध्यायी, जातक और अर्थशास्त्र म पचमार्तण्ड श्रृखला का वर्णन है ।

पाणिनि—कार्षापण, अर्ध और पदकार्षापण को जानते हैं । माषा (१/१६ कार्षापण या ऐप्याभाशा) भी भारतीय Numismatic History का अत्यन्त रोचक तथ्य है । पाणिनि का दो प्रकार के सिलवर पच मार्तण्ड सिक्को का ज्ञान (३२ रत्ती का एक सिक्का) जो नन्दा द्वारा निकाला प्रतीत होता है—दूसरा ४० रत्ती का भारी सिक्का जो विनिसेटिका ने दो सूत्रो मे वर्णन किया है । (५ १ २७, ३०) मे । इसका वजन २० माशे के समान होता था ।

एक १०० रत्ती के सिक्के (शतमाशा) का भी उल्लेख है (रक्तिका) जिसका वजन Identified with the bent bar silver punch marked pieces और भी एक सिक्का शाना था जो शतमाण का १/८ होता था।

अष्टाध्यायी म कृषि, फ्लोरा और फौना कला, उद्योग, श्रम-मजदूरी, व्यापार Enchang and barter, banking और ऋण आदि के अनेक प्रमाण हैं जा प्राचीन भारतीय जीवन का सुन्दर चित्र प्रस्तुत करती हैं ।[1]

उपर्युक्त वर्णन से यह स्पष्ट है कि अर्थशास्त्र सबधी सिद्धान्त जो प्राचीन भारत मे बन चुके थे, वे सर्वथा जनहित म थे—उन्ही के आधार पर वर्तमान अर्थशास्त्र विकसित हुआ है । इसके विकास म भी भारतीय मनीषा का ही *अत्यधिक योगदान है ।*

मैत्रायणी सहिता तथा अन्य वैदिक साहित्य मे गऊओ की नस्ल तैयार करने का उल्लेख है । काठियावाडी बैलो की विशेष नस्ल भारतीय उपलब्धि(काछा गौ)

---

१ Cultural Heritage of India, p 307

फौना से सबधित य दो महत्त्वपूर्ण बिन्दु हैं।[१]

वैदिक काल म आर्य संस्कृति ज्ञान, शक्ति और सामाजिकव्यवस्था की दृष्टि से बहुत उच्च स्तर पर पहुच गई थी। भारत वर्ष के इतिहास म वैदिक युग को आदर्श मानकर आग के युगो मे वैदिक काल की स्थिति के अनुरूप मानव-जीवन को ढालने का प्रयत्न किया गया है। इस प्रकार मानव-जीवन मे जो कुछ भी बाद के काल मे मूल्यवान मिला उसका मूल वेदो मे ही खोजा जाने लगा, दर्शन, धर्म, आचार, सभी विद्वान तथा प्रत्येक वस्तु वेदो म ढूढी जाने लगी।[२]

विष्णु, शिव तथा ब्रह्म, पुराण आदि म जा कथाए वर्णित हैं उनका उत्पत्ति स्थान भी वेद ही है। मुख्य दार्शनिक सिद्धान्त वैदिक विचारधारा पर हा आधारित है। सम्पूर्ण संस्कृत साहित्य म वैदिक सभ्यता को समझाने का एव जीवन को तदनुसार ढालने का प्रयत्न हुआ है। परन्तु इस उच्चारित उच्च संस्कृत को समझने के लिए आधुनिक युग उपयुक्त नहीं है—प्राचीन एव आधुनिक युग की विचारधारा म सघर्ष है।[३]

आधुनिक दृष्टिकोण से पाश्चात्य सभ्यता मे रगे हुए लोग प्राचीन भारतीय संस्कृति को भले ही महत्व न दें, किन्तु यह मानना पडेगा कि भारत जैसे महान राष्ट्र की बुद्धि कल्पना और भावना की अपेक्षा उस दृष्टिकाण म दीर्घ काल तक जनमानस को तुष्टि प्रदान नही की जा सकती। बुद्धि और कल्पना के क्षेत्रो मे इस राष्ट्र के रेकर्डस पृथ्वी तल पर प्रकट हुए आ विश्व के किसी भी राष्ट्र से कम नही है।

बहुर्चाचत-वर्ण व्यवस्था और आश्रम व्यवस्था का मूल भी वेदो मे मिलता है। वैदिक ऋषियो ने गहन चितन और सूझबूझ के फलस्वरूप सुव्यवस्थित समाज के निर्माण हतु सम्पूर्ण मानव-समाज को विभिन्न प्रकृति, स्वभाव और क्षमता के अनुरूप चार भागो मे विभाजित करके अलग-अलग कार्यों का दायित्व उन्हे सौंपा था। वेदवाणी का साराश रूप जो श्री मद्भागवत गीता है उसमें भगवान कृष्ण ने कहा है—

'ब्राह्मण क्षत्रिय वैश्य शूद्राणा च परन्तप:।
कर्माणि प्रविभक्तानि स्वभाव प्रभवै गुणं ॥

अर्थात्—हे अर्जुन! ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्रो के कर्म स्वभाव से उत्पन्न होते हैं।

इस प्रकार अपने-अपने कुल की क्षमताओं के अनुसार वैश्य अर्थोपार्जन म

१ Cultural Heritage of India, p. 307।
२ वही, p २२०।
३. A History of Indian Philosophy

रत थे, ब्राह्मण ज्ञानार्जन और ज्ञानदान में संलग्न थे—बिना किसी प्रकार के चातुर्य वाला समाज अन्य वर्गों के सहायक रूप में सेवारत था और क्षत्रिय सबकी रक्षा में तत्पर रहते थे—कोई किसी से बड़ा छोटा अथवा कम अधिक महत्त्व का नहीं था—सबका समाज में समान आदर था।[1]

अपने-अपने वंशानुगत व्यवसाय में लगे रहने से बेरोजगारी की समस्या भी खड़ी नहीं होती थी। प्रत्येक बालक अपने परिवार के धन्धे को होश सम्भालते ही अनायास सीखने लगता था। शिक्षा-दीक्षा से चारित्रिक गुण और आवश्यक शिक्षा पूर्ति पर पारिवारिक व्यवसाय बिना विशेष समय और शक्ति के व्यय के सीख लेते थे।

स्त्रियाँ गृहलक्ष्मी रूप घर के काम-काज सम्हालती थीं और आवश्यकता पड़ने पर राजकाज अथवा देश की रक्षा हेतु वीरता के कार्यों में भाग लेने की क्षमता प्राप्त कर लेती थीं।

आश्रम व्यवस्था[2] से जो जीवन को चार भागों में विभाजित किया गया था—उसमें भी भारतीय संस्कृति का उज्ज्वल स्वरूप झलकता है। प्रथम २५ वर्षों में गुरु के पास रहकर ज्ञानार्जन करते हुए इंद्रियभोगों से विरत रहना—चित्त की एकाग्रता से व्यक्तित्व के निर्माण और जीवन-यापन की क्षमता में सहायक था—फिर गृहस्थाश्रम में प्रवेश करके धर्मपूर्वक सन्तानोत्पत्ति के साथ-साथ परिवार और समाज के प्रति अपने कर्तव्यों का पालन करता था—देवयज्ञ, पितृयज्ञ, अतिथियज्ञ और भूतयज्ञ—चार प्रकार के यज्ञ अर्थात् कर्तव्य कर्म गृहस्थ के लिए निर्धारित थे। अतः वह देवताओं के प्रति, पूर्वजों के प्रति, अतिथिगण के प्रति और पशु, पक्षी, कीड़े, मकोड़े आदि समस्त जीव सृष्टि के प्रति अपना कर्तव्य समझता हुआ अपनी सीमित आय का अंश भी आवश्यकतानुसार सबको प्रति देता था।

इस प्रकार 'स्वे स्वे कर्मण्यभिरतः' अपने-अपने कर्मों में लगे हुए सभी वर्ग के लोग पारस्परिक मेल-जोल से शान्तिपूर्वक जीवन-यापन कर सकते थे।

५० वर्षों तक गृहस्थाश्रम का लाभ उठाकर सन्तान और परिवार के प्रति अपने दायित्व से विरत हुआ मनुष्य निष्काम सेवा कृत्यों में लगकर अपने सन्यास आश्रम की तैयारी कर सकता था। सन्यास आश्रम में भगवच्चिन्तन द्वारा आत्मा का विकास करता हुआ प्राणी मानव जीवन का मुख्य लक्ष्य आत्म साक्षात्कार के

---

१ मातृदेवोभव, पितृदेवोभव, आचार्यदेवोभव और सत्यंवद आदि सूत्र विद्यार्थी के जीवन में प्रतिष्ठित किए जाते थे।

२ ब्रह्मचर्य आश्रम—२५ वर्ष की आयु तक, गृहस्थाश्रम—२५ से ५० वर्ष तक, वानप्रस्थ—५० से ७५ तक तथा ७५ से १०० तक सन्यास आश्रम।

मार्ग पर अग्रसर हो सकता है।

मनुष्य की औसत आयु १०० वर्ष मानकर भारतीय ऋषियों ने जीवन-यापन का यह आदर्श मानव-समाज के लिए प्रस्तुत किया था जो कालान्तर मे परिस्थितियो वश मनुष्य मे आस्था के कम होने और वासनाओ की उत्तेजना एव दम्भ की जागृति से विकृत हो चली। धीरे-धीरे ब्रिटिश साम्राज्य के आधिपत्य से पाश्चात्य सभ्यता के रग म जन-मानस रँगने लगा—जीवन मे भौतिक वादिता छा गयी, इद्रिय भोगो को प्रधानता दी जाने लगी। आश्रम-व्यवस्था की महत्ता दृष्टि से ओझल हो गई। विद्यार्थी-जीवन की किशोरावस्था मे ही बालक-बालिकाओ का ध्यान इद्रियभोगो की ओर आकर्षित होने लगा। फिर विद्याध्ययन और ज्ञानोपार्जन मे व्यवधान पडना निश्चय था। उन वैदिक आदर्शों को भुलाने एव उपेक्षित करने के कारण आज समाज और राष्ट्र मे विश्रृखलता फैल रही है। ज्ञानोपार्जन मे रुचि नही, शिक्षा का मात्र उद्देश्य जीविका-उपार्जन होने से येन केन प्रकारेण डिग्री प्राप्त करना विद्यार्थियो का उद्देश्य रहता है—अत ब्रह्मचर्याश्रम वाली सयमशीलता और चित्त की एकाग्रता नही रही। आश्रम-व्यवस्था द्वारा मनुष्य का सम्पूर्ण जीवन अनुशासित और सुव्यवस्थित हो सकता था।

इस प्रकार गृहस्थाश्रम मे प्रवेश हेतु विवाह का आदर्श एक पावन पद्धति बनी थी—अनुरूप गुण और प्रकृति के वर-कन्या का अग्नि को साक्षी करके समाज के समक्ष पवित्र पाणिग्रहण सस्कार होना था—विवाह एक समझौता मात्र न होकर जीवन भर के लिए एक बन्धन और नियत्रण रखने वाली शक्ति थी। (Binding force) वेदो मे विवाह विच्छेद (divorce) का उल्लेख नही है परन्तु विधवा विवाह तथा पुरुषो के दूसरे विवाह प्रचलित थे। वैदिक काल मे सतीप्रथा नही थी, पर उससे पूर्व कुछ चिह्न मिलते हैं।

सामान्यत एक विवाह की प्रथा थी, किन्तु कोई धनी अथवा प्रशासक वर्ग के लोग कई विवाह करते थे। वैसे एक विवाह ही धार्मिक पावन कृत्य था जिससे पति अपनी स्त्री को ईश्वर प्रदत्त भेंट माने। किन्ही वर्गों मे स्त्री खरीदने की प्रथा भी थी, यद्यपि ऐसा करने वाले को समाज में निम्न दृष्टि से देखा जाता था।

कहीं-कही दहज-प्रथा का उल्लेख है। प्रेम-विवाह से भी अपरिचित नही थे। कुछ वैदिक भजन है जो प्रेम की सफलता हेतु गाये गये हैं।

३

साहित्य, संगीत और नाटक

संसार में मानव-जीवन का लक्ष्य सुख की प्राप्ति है और सच्चा सुख मिलता है आत्मा, मन और शरीर के स्वाभाविक सामंजस्य और संतुलन में। इस सामंजस्य को लाने के लिए किसी संस्कृति में क्या-क्या विचार, सिद्धान्त और रूप अपनाये गये हैं और किस सीमा तक लक्ष्यपूर्ति की ओर अग्रसर हुए हैं, यही संस्कृति की जांच है। इस लक्ष्य की पूर्ति हेतु किये जाने वाले प्रयत्न क्षणिक लाभ वाले भौतिकता प्रधान हो सकते हैं अथवा शाश्वत फल देने वाले।

भारतवर्ष का मुख्य विचार चिरंतन और शाश्वतता का है। स्थूल पदार्थों के अन्तर में आत्मा की अनुभूति करते हुए मनुष्य विचारों के साम्राज्य में प्रवेश कर नीति और धर्म को अपनाता है—इस प्रकार जड़ पदार्थों पर आत्मा की विजय से विकास करते-करते व्यक्ति का स्तर ऊंचा उठता जाता है। उनके मानस का सात्विक अंश प्रकट होने लगता है और इस क्रम से कभी-न-कभी वह परमसत्ता से एकाकार होने की स्थिति तक पहुंच जाता है।

भारतवर्ष की सामाजिक रचना ही इस आधार पर हुई, यहां के दर्शन ने उसे यह रूप दिया है—धर्म आध्यात्मिक चेतना के लिए उच्चाकांक्षा रूप है—और यहां की कला और साहित्य का यही उच्च दृष्टिकोण है। भारत का सम्पूर्ण धर्म इसी पृष्ठभूमि (आधार) पर बना है। यहां के इस उच्चातिउच्च आदर्श के कारण ही भारत वर्ष मानवीय विश्व में अपना अलग स्थान रखता है।

भारतीय अध्यात्म में त्याग का स्वर मुखरित होने के कारण सामान्यतः भारतीय संस्कृति—धर्म और दर्शन के आलोचक उसमें सौन्दर्य भाव का अभाव बताते हैं, परन्तु सौन्दर्य भाव की आत्मा को पहचानने वाले यहां की संस्कृति को यह दोषारोपण नहीं कर सकते। यहां के विचार और साहित्य में सर्वत्र सौन्दर्य भाव व्याप्त है। सत्य-शिव-सुंदर भारतीय साहित्य का मापदण्ड है—सत्य हो अर्थात् शाश्वत, कल्याणकर और पढ़ने व सुनने में सुन्दर अर्थात् आनन्द की सर्जना करने वाला—श्रुति मधुर—जिसका कलापक्ष सम्पन्न हो। श्रीमद्भगवत् गीता, रामायण और महाभारत ऐसे ही भारतीय ग्रंथ हैं जिन्हें 'सत्य-शिव-सुन्दर' का मूर्त रूप माना जाता है। इसी प्रकार कला की विभिन्न विधाओं—मूर्तिकला,

वास्तुकला, चित्रकला, संगीत और नृत्य एवं नाट्य आदि में सर्वत्र सौन्दर्य भाव व्याप्त है। सौन्दर्य का कोई भी विचार पक्ष ऐसा नहीं जिस पर भारतीय चिन्तन ने बल न दिया हो।

भारतीय जीवन का आधारभूत सिद्धान्त है धर्म। यहां के मानव जीवन के सही तत्त्व है—सत्य, प्रेम क्षमा, करुणा, आत्म-बलिदान विशालता—यही धर्म का सार है। बौद्धों का उच्च सौन्दर्य भाव जैन धर्म का त्याग, तपस्या का आदर्श और आत्म-संयम। हिन्दू धर्म में धर्म के सब प्रकार के महिमाशाली दृष्टान्त किसी भी धार्मिक पद्धति के सौन्दर्य भाव से कम नहीं है—बल्कि इन्हें सर्वाधिक शक्ति-पूर्ण और प्रभावशाली कहा जा सकता है। भारतीय संस्कृति में सौन्दर्य का आधार बाहरी प्रदर्शन की अपेक्षा आन्तरिक गुण है—आन्तरिक गुणों की लालिमा ही बाहरी सौन्दर्य रूप में प्रकट होती है।

किसी संस्कृति को जीवन के लिए उपयोगिता की दृष्टि से आंकने पर तीन शक्तियां पायी जाती हैं—

प्रथम—जीवन के विषय में उसकी मौलिक शक्ति।

द्वितीय—उसने जो जीवन का रूप संगीत और विधाएं दी हैं।

तृतीय—मनुष्यों में उत्साह, प्रेरणा और आदर्शों की पालना हेतु ओजस्विता मनुष्य और जाति के जीवन में प्रकट होती है।

भारतीय संस्कृति में जीवन का चिन्तन अन्तर से—भीतर से उत्पन्न होकर बाहर की ओर एक भिन्न रूप में दृष्टि में आता है। भारतीय विचार दृष्टि की विलक्षणता यह है कि वह बाहरी रूप के माध्यम से आन्तरिक भाव देखती है। विश्व, प्रकृति और अस्तित्व के विषय में भारतीय विचार भौतिक नहीं मनोवैज्ञानिक एवं भावनात्मक हैं। आत्मा तथा अंतःकरण स्थूल सामग्री तथा बाहरी शक्तियों से केवल बड़े ही नहीं बल्कि इन तुच्छ चीजों के उत्पत्ति स्रोत ही वे हैं। प्रकृति उस परम सत्ता का यन्त्र मात्र है—वह शक्ति अन्तःकरण की है। आत्मा की शक्ति को ही महत्ता दी जाती है—बाहरी शरीर रूप रंग सब कुछ आत्मा के लिए ही है परन्तु इसका तात्पर्य यह नहीं कि आकार या रूप का मूल्य नहीं, महत्त्व नहीं। आत्मा की शक्ति से स्थूल आकार का मेल होने से उसकी महत्ता कई गुना बढ़ जाती है—प्राचीन भारतीय विचारधारा में मानव-जीवन का अत्यधिक महत्त्व है। पुराणों में कहा है कि स्वर्गीय देवता तक मानव-जीवन से ईर्ष्या करते हैं। हृदय और मस्तिष्क की शक्ति, मन और शरीर की शक्ति और उनके बल से अर्जित धन—ये सभी साधन आत्मा की खोज के साधन हैं—जिसके बल से मनुष्य निज स्वरूप को प्राप्त करता है।

किसी देश या जाति की संस्कृति के तीन पहलू होते हैं—सौन्दर्यबोध, नीति-बोध एवं तत्त्वबोध। जिस देश या जाति को जीवित रहने के लिए इतनी शक्ति

व समय खर्च करना पड़ता है कि व्यक्तित्व को सुन्दर व परिष्कृत बनाने वाली निरुपयोगी क्रियाओं के लिए अवकाश नहीं मिलता अथवा जो सदा भौतिक साधनों के लिए सम्पत्ति बढ़ाने के पीछे पड़ी रहकर साहित्य कला आदि की चर्चा में रुचि नहीं रखती वे सांस्कृतिक दृष्टि से पिछड़ी ही मानी जाएगी। सांस्कृतिक व्यक्ति वह है जिसके मन बुद्धि केवल उपयोगिता के धरातल पर संचरण नहीं करते बल्कि जीवन की उपयोगितामूलक समस्याओं का न्यूनाधिक हल करके ऐसे क्रियाकलापों में लगते हैं जिनका संबंध व्यक्तित्व के सौन्दर्य एवं चेतना के परिष्कार से है।

किसी जाति की सांस्कृतिक चेतना उन सम्मानित लेखकों विचारकों एवं कलाकारों में अभिव्यक्ति पाती है जो विशुद्ध उपयोगिता के दायरे को लाँघकर ऐसे प्रश्नों एवं अनुभवों से उलझते हैं जिनका संबंध मानवीय व्यक्तित्व को उभारने की क्रियाओं से है। उस जाति की अभिरुचि ऐसी चर्चाओं में होती है जिनका विषय उनके सदस्यों का सौन्दर्यबोध, नीतिबोध तत्त्वबोध है—जिसके फलस्वरूप उस जाति के प्रिय नेता प्रवक्ता इस प्रकार की चर्चाओं में लगे रहना सम्भव पाते हैं।

भारतीय संस्कृति में उपयुक्त तीनों पहलू पूर्ण विकसित रूप में दर्शनीय हैं। यद्यपि इस संस्कृति का मुख्य स्वर नीति-बोध और तत्त्व-बोध है, परन्तु यहां का कला और साहित्य में सौन्दर्यबोध भी प्रचुरता से छाया हुआ है।

रामायण और महाभारत के नायकों के जीवन पर संघर्ष की घनी छाया होते हुए भी साहित्य का कलापक्ष पूर्णरूपेण मुखरित हुआ है। यद्यपि महाभारत के नायक की दृष्टि प्रधानतः अपने खोए हुए राज्य की प्राप्ति है उनकी समस्त चिन्ता और प्रयत्नों का केन्द्र है, अपने पैतृक अधिकार को पुनः हस्तगत करने का प्रश्न—परन्तु इस दृष्टि और इस प्रयत्न को एक व्यक्तिगत लाभ के रूप में चित्रित नहीं किया गया है वस्तुतः यह समष्टि के हित को ध्यान में रखते हुए दैव वृत्ति की आसुरी वृत्तियों पर विजय प्राप्त करने का प्रयत्न है—इस प्रकार महाभारत की कथा एक तत्कालीन ऐतिहासिक घटना मात्र नहीं है—इस ग्रंथ में जीवन के विविध पहलुओं पर अमूल्य ज्ञान सन्निहित है जो मानव मात्र के लिए देशकाल निरपेक्ष होकर चिरंतन जीवन संदेश देता है। यही कारण है कि इस महापुराण को हिन्दू संस्कृति अथवा भारतीय संस्कृति का विश्वकोश माना जाता है।

सांस्कृतिक दृष्टि मुख्यतः अपने को उन विशेषताओं पर केन्द्रित करती है जो नायक या नायिका के मानवीय व्यक्तित्व का अंग है—इसके विपरीत उपयोगिता की दृष्टि से ऐसी सामग्री तथा शक्तियों में अधिक रुचि लेता है जिनका संबंध व्यक्ति विशेष की मनुष्यता से नहीं है बल्कि व्यावहारिक जीवन के सामाजिक, राजनैतिक व आर्थिक आदि विभिन्न क्षेत्रों के लिए वे अत्यन्त महत्त्वपूर्ण हैं। भारतीय

संस्कृति और साहित्य मे इन दोनों पक्षो का सम्यग्निरूपण पाया जाता है। प्राचीन सस्कृत साहित्य, इस तथ्य को साक्षी रामायण, महाभारत के अतिरिक्त महाकवि कालिदास द्वारा दिये गये रघुवंशी वीरो के चरित्र सबंधी विवरण भारतीय नीति-बोध के उदात्त उदाहरण हैं। रघु तथा राम के वशजों का चरित्र मर्यादाबोध का स्रोत है—इस विवरण मे कवि की सौन्दर्य दृष्टि तथा लोक-मगल दृष्टि दोनों ही पूर्णतया प्रतिफलित होते हैं। महाकवि कालिदास के काव्यो मे नायक-नायिकाओ के सौन्दर्य, उनके सयोग-वियोग के व र्णन तथा प्रकृति-सौन्दर्य का मनोहारी चित्रण जहा सौन्दर्य-बोध के ज्वलन्त उदाहरण है वहा किरातार्जुनीय मे अर्जुन तथा किरात वेशधारी शिव के युद्ध-कौशल के द्योतक हैं। इसी प्रकार इन ग्रंथो म तपस्वी ऋषियो के निरीह जीवन प्रसगो के साथ ही राजनीति विशारद मत्रियो आदि के वर्णन भी मिलते हैं एव यथास्थान विभिन्न ऋतुओ के आश्रमो के जल-विहार तथा मृगया आदि के सजीव चित्रण उस युग के मनीषियो के जीवन आदर्शों को इगित करने के साथ-साथ सौन्दर्यप्रियता का बोध कराती है।

रघुवश का एक उद्धरण कालिदासकालीन भारत की सस्कृति का ज्वलन्त उदाहरण प्रस्तुत करता है—

सोऽहमाजन्म शुद्धानामाफलोदय कर्मणा,
यथाविधि हुताग्नीना यथा कामार्चितार्थिना।
यथापराध दण्डाना यथाकाल प्रबोधिताम,
त्यागाय सम्भृतार्थाना सत्याय मितभाषिणा।
यशसे विजिगीषणा प्रजायै गृहमेधिना।
शैशवेऽभ्यस्त विद्याना यौवने विषयैषिणा,
वार्धक्ये मुनिवृत्तीना योगेनान्ते तनु त्यजाम् ॥

(रघुवश प्रथम सर्ग-५-३)

अर्थात्—

रघुवश के वीर राजा आजीवन शुद्ध रहते थे, फल की प्राप्ति तक कार्य करते थे, विधिपूर्वक यज्ञादि करते और भिक्षुओ की कामनाए पूरी करते थे। अपराध के अनुपात मे दण्ड देते थे, समय पर सोकर उठते थे। त्याग के लिए धन-सचय करत थे, सत्य के लिए मितभाषी बने रहते थे और यश के लिए विजय की कामना करते थे और सतान के लिए विवाह। वे बाल्यावस्था मे विद्या का अभ्यास करते थे और यौवनकाल मे विषयो की इच्छा। वृद्धावस्था मे वे मुनियो की भांति आचरण करते थे, और अत मे योग द्वारा शरीर त्याग देते थे।

रघुवश के नायको का नैतिक व्यक्तित्व कितना उदात्त एव स्पृहणीय चित्रित हुआ है। इससे स्पष्ट है कि रघुवशी राजा वर्णाश्रम व्यवस्था के आदर्श अनुगामी थे, साथ ही वे सक्षम कार्यसाधक भी थे। अज तथा इन्दुमती एव शिव-पार्वती

के विवाह के सरस चित्रण मे मनोविज्ञान और सौन्दर्य-बोध दोनों का मर्मस्पर्शी प्रकटन हुआ है। हमारे साहित्य में कई स्थलो पर भारतीय नारी का सास्कृतिक सौन्दर्य भी पूर्णतया प्रस्फुटित हुआ है।[1] वर-रूप शिव ने पार्वती से ध्रुवतारा देखने को कहा, जिसका प्रयोजन इस प्रतिज्ञा का आश्वासन है कि देखने वाले का प्रेम ध्रुव की तरह अटल रहेगा। इस पर लज्जा से सकुचाई पार्वती ने अपने मुख को थोडा ऊचा करके किसी प्रकार कहा—देख लिया[1] ऐसे ही रामायण का एक मनोहारी प्रसग है—वनवासी वेश मे विचरती हुई राम लक्ष्मण के साथ सीता को देखकर ग्राम-वधुए पूछती हैं— यह तुम्हारे कौन हैं, इसपर सीताजी ने लजाते हुए नेत्रो के इशारे से ही इगित किया कि वह उनके पति है[2] सस्कृत वाङ्मय—राष्ट्र के गौरवमय अतीत मे जब एक अगाध आध्यात्मिक अन्तर्दृष्टि कार्य कर रही थी और एक सूक्ष्म अन्तर्ज्ञानात्मक दृष्टि से उद्‌भूत सर्जन प्रवृत्ति क्रियाशील थी, ऐसे युग मे भारत के मनुष्यो की प्रतिभा से चार परमोच्च रचनाए प्रादुर्भूत हुई— वेद-उपनिषद और महाभारत-रामायण वृहत महाकाव्य। ये सभी उच्चकोटि की और ऐसी शैली की भावना से सम्पन्न रचनाए हैं जिनकी समानता विश्व के साहित्य मे अन्यत्र मिलना कठिन है।[3]

वेद—वेद एक अद्‌भुत, उदात्त शक्तिशाली रचना है। ससार का सर्वप्रथम आदि ग्रथ है जिसमे जीव, जगत और जगत के रचयिता परमेश्वर की व्याख्या है। 'वेद के कवि उत्कृष्ट काव्य कला विशारद है। उनके स्वर-ताल देवताओ के रथो के समान अलकृत हैं और ध्वनि के दिव्य तथा विशाल पखो पर सवार हैं। उनकी वाणी गहराई के कारण भावोत्तेजक और ऊचाई के कारण वीर रसमयी होती हुई एक महान शक्ति का उद्‌गार है, हृदय पर सीधे और सहज रूप मे प्रभाव डालती है। वेद वाणी अर्थ और सकेत मे इस प्रकार लबालब भरी हुई है कि

---

१. डॉ० देवराज, भारतीय सस्कृति महाकाव्यो के आलोक मे, पृष्ठ १०४।

२. कोटि मनोज लजावन हारे, सुमुखि कहेहु को अहहि तुम्हारे।
सुनि सनेहमय मजुल बानी, सकुची सिय मन महु मुसकानी॥
तिन्हहि बिलोकि बिलोकति धरनी, दुहु सकोच सकुचति बरबरनी।
सहज सुभाय सुभगतन गोरे, नाम लखन लघु देवर मोरे॥
बहुरि बदन बिधु अचल ढाकी, पियतन चितइ भौंह करि बाकी॥
खजन मजु तिरीछे नयननि, निजपति कहेउ तिनहिं सिय सयननि।
(अयोध्या काण्ड)

३. श्री अरविन्द, भारतीय सस्कृति के आधार, पृष्ठ ३२०।

प्रत्येक मंत्र अपने आप में एक सशक्त पर्याप्त वस्तु के रूप में अपना अस्तित्व रखता है।

उपनिषद्—वैदिक ऋषियों के सान्निध्य में बैठकर उनके शिष्यों ने जो ज्ञान पाया उस सत्य प्रकाशक अन्तर्ज्ञानात्मक दर्शन का लिपिबद्ध विवरण उपनिषद है—चाहे पद्य में लिखे हों या लयबद्ध गद्य में, वे पूर्ण एवं अन्तर्प्रेरणा युक्त आध्यात्मिक कविताएं हैं जिनकी पदावलि नितान्त स्वाभाविक और लय तथा अभिव्यंजना अद्भुत है। उपनिषद् भारत के आदि ऋषियों के अन्तर्मन से स्वतः स्फुरित अभिव्यक्ति है जिसमें दर्शन, धर्म और काव्य एक हो गये हैं, क्योंकि यह किसी धार्मिक, नैतिक अभीप्सा तक ही सीमित नहीं है बल्कि सत्ता के उच्चतम और समग्र सत्स्वरूप की असीम खोज तक ऊंचाइयों पर जाकर एक प्रकाशपूर्ण ज्ञान तथा परिपूर्ण अनुभव के भावावेश में अपनी वाणी को अभिव्यक्ति देता है।

यह दर्शन न तो सत्य के विषय में कोई अमूर्त्त बौद्धिक कल्पना है न यह तार्किक बुद्धि की ही कोई रचना है, यह एक सत्य है जिसे अन्तर्तम और आत्मा ने जीवन में उतारा है। उपनिषद काव्य ऐसे सौन्दर्यात्मक मन की कृति है जो दुर्लभ आध्यात्मिक आत्म-दर्शन के आश्चर्य और सौन्दर्य को तथा आत्मा-परमात्मा और जगत के गहनतम परमोज्ज्वल सत्य को प्रकट करने के लिए अपने साधारण क्षेत्र से ऊपर उठकर उसके परे पहुंच गया है। यहां वैदिक ऋषियों का अन्तर्ज्ञानात्मक मन और अन्तरंग आध्यात्मिक अनुभव उस परमोच्च परिणति को प्राप्त होता है जिसमें आत्मा कठोपनिषद के मंत्रानुसार अपना वास्तविक स्वरूप प्रकट कर देता है (आत्मा विवृणुते तनुं स्वाम्) और मन के समक्ष उन लय-तालों के स्पंदन को खोल देता है जो आध्यात्मिक श्रुति में अपने आपको भीतर ही भीतर दुहराते हुए अन्तरात्मा का गठन करते तथा उसे आत्मज्ञान के शिखरों पर तृप्त और सर्वांगपूर्ण रूप से प्रतिष्ठित करते प्रतीत होते हैं।

भारतीय उपनिषद वाङ्मय अनेकानेक गहन दर्शनों और धर्मों का सर्व-सम्मत मूल स्रोत रहा है। जिस प्रकार भारत की बड़ी-बड़ी नदियां हिमालय की गोद से प्रवाहित हुईं, उसी प्रकार उसके धर्म और दर्शन भी उपनिषद रूपी स्रोत से प्रवाहित हुए और यहां के निवासियों के मन और जीवन को उर्वर बनाते हुए सदियों की दीर्घ परम्परा तक इसकी अन्तरात्मा को सजीव बनाते रहे। वे प्रकाश पाने हेतु निरन्तर अक्षय जीवनदायी धाराओं के इस स्रोत की ओर मुड़ते रहे तथा नवीन प्रकाश देने से कभी नहीं चूके।

बौद्ध धर्म उपनिषदों के ही अनुभव के एक पक्ष का पुनः प्रतिपादन रूप में प्राकट्य था। यद्यपि वह एक नये दृष्टिकोण से बौद्धिक परिभाषा तकणा के नये शब्दों में सम्पूर्ण एशिया और पश्चिम यूरोप तक पहुंचा, परन्तु सारतत्त्व को परिवर्तित नहीं किया। पाइथागोरस और प्लेटो की चिंतनधारा के भी अधिकांश

के विवाह के सरस चित्रण मे मनोविज्ञान और सौन्दर्य-बोध दोनों का मर्मस्पर्शी प्रकटन हुआ है। हमारे साहित्य म कई स्थलो पर भारतीय नारी का सास्कृतिक सौन्दर्य भी पूर्णतया प्रस्फुटित हुआ है।[1] वर-रूप शिव ने पार्वती स ध्रुवतारा देखने को कहा, जिसका प्रयोजन इस प्रतिज्ञा का आश्वासन है कि देखने वाले का प्रेम ध्रुव की तरह अटल रहेगा। इस पर लज्जा से सकुचाई पार्वती ने अपने मुख को थोड़ा ऊचा करके किसी प्रकार कहा—देख लिया[1] ऐसे ही रामायण का एक मनोहारी प्रसग है—वनवासी वेश मे विचरती हुई राम लक्ष्मण के साथ सीता को देखकर ग्राम-वधुए पूछती हैं— यह तुम्हारे कौन है इसपर सीताजी ने लजाते हुए नेत्रो के इशारे से ही इगित किया कि वह उनके पति है[2] सस्कृत वाङ्मय—राष्ट्र क गौरवमय अतीत मे जब एक अगाध आध्यात्मिक अन्तर्दृष्टि कार्य कर रही थी और एक सूक्ष्म अन्तर्ज्ञानात्मक दृष्टि से उद्भूत सर्जन प्रवृत्ति क्रियाशील थी, ऐसे युग मे भारत के मनुष्यो की प्रतिभा से चार परमोच्च रचनाए प्रादुर्भूत हुई— वेद उपनिषद और महाभारत-रामायण बृहत महाकाव्य। य सभी उच्चकोटि की और ऐसी शैली की भावना से सम्पन्न रचनाए हैं जिनकी समानता विश्व के साहित्य म अन्यत्र मिलना कठिन है।[3]

वेद—वेद एक अद्भुत, उदात्त शक्तिशाली रचना है। ससार का सर्वप्रथम आदि ग्रथ है जिनमे जीव, जगत और जगत के रचयिता परमेश्वर की व्याख्या है। 'वेद के कवि उत्कृष्ट काव्य कला विशारद है। उनके स्वर-ताल दवताओ क रथो के समान अलकृत हैं और ध्वनि के दिव्य तथा विशाल पखो पर सवार हैं। उनकी वाणी गहराई के कारण भावोत्तेजक और ऊचाई के कारण वीर रसमयी होती हुई एक महान शक्ति का उद्गार है हृदय पर सीधे और सहत रूप मे प्रभाव डालती है। वेद वाणी अर्थ और सकत मे इस प्रकार सबालब भरी हुई है कि

---

१ डॉ० देवराज, भारतीय सस्कृति महाकाव्यो के आलोक म, पृष्ठ १०५।

२ कोटि मनोज लजावन हारे, सुमुखि कहेहु को अहहि तुम्हारे।
सुनि सनेहमय मजुल बानी, सकुची सिय मन महु मुसकानी॥
तिन्हहि बिलोकि बिलोकति धरनी दुहु सकोच सकुचति बरबरनी।
सहज सुभाय सुभगतन गोरे, नाम लखन लघु देवर मोरे॥
बहुरि बदन बिधु अचल ढाकी, पियतन चितइ भौंह करि बाकी॥
खजन मजु तिरीछे नयननि, निजपति कहेउ तिनहि सिय सयननि।
(अयोध्या काण्ड)

३. श्री अरविन्द, भारतीय सस्कृति के आधार, पृष्ठ ३२०।

प्रत्येक मंत्र अपने आप में एक सशक्त पर्याप्त वस्तु के रूप में अपना अस्तित्व रखता है।

उपनिषद्—वैदिक ऋषियों के सान्निध्य में बैठकर उनके शिष्यों ने जो ज्ञान पाया उस सत्य प्रकाशक अन्तर्ज्ञानात्मक दर्शन का लिपिबद्ध विवरण उपनिषद है—चाहे पद्य में लिखे हों या लयबद्ध गद्य में, वे पूर्ण एवं अन्तर्प्रेरणा युक्त आध्यात्मिक कविताएं हैं जिनकी पदावलि नितान्त स्वाभाविक और लय तथा अभिव्यंजना अद्भुत है। उपनिषद् भारत के आदि ऋषियों के अन्तर्मन से स्वतः स्फुरित अभिव्यक्ति है जिसमें दर्शन, धर्म और काव्य एक हो गए हैं, क्योंकि यह किसी धार्मिक, नैतिक अभीप्सा तक ही सीमित नहीं है बल्कि सत्ता के उच्चतम और समग्र सत्स्वरूप की असीम खोज तक ऊंचाइयों पर जाकर एक प्रकाशपूर्ण ज्ञान तथा परिपूर्ण अनुभव के भावावेश में अपनी वाणी को अभिव्यक्ति देता है।

यह दर्शन न तो सत्य के विषय में कोई अमूर्त बौद्धिक कल्पना है न यह तार्किक बुद्धि की ही कोई रचना है, यह एक सत्य है जिसे अन्तर्मन और आत्मा ने जीवन में उतारा है। उपनिषद काव्य ऐसे सौन्दर्यात्मक मन की कृति है जो दुर्लभ आध्यात्मिक आत्म-दर्शन के आश्चर्य और सौन्दर्य को तथा आत्मा-परमात्मा और जगत के गहनतम परमोज्ज्वल सत्य को प्रकट करने के लिए अपने साधारण क्षेत्र से ऊपर उठकर उसके परे पहुंच गया है। यहां वैदिक ऋषियों का अन्तर्ज्ञानात्मक मन और अन्तरंग आध्यात्मिक अनुभव उस परमोच्च परिणति को प्राप्त होता है जिसमें आत्मा कठोपनिषद के मतानुसार अपना वास्तविक स्वरूप प्रकट कर देता है (आत्मा विवृणुते ते नु स्याम) और मन के समक्ष उन लय-तालों के स्पंदन को खोल देता है जो आध्यात्मिक श्रुति में अपने आपको भीतर ही भीतर दुहराते हुए अन्तरात्मा का गठन करते तथा उसे आत्मज्ञान के शिखरों पर तृप्त और सर्वाङ्गपूर्ण रूप से प्रतिष्ठित करते प्रतीत होते हैं।

भारतीय उपनिषद वाङ्मय अनेकानेक गहन दर्शनों और धर्मों का सर्व-सम्मत मूल स्रोत रहा है। जिस प्रकार भारत की बड़ी-बड़ी नदियां हिमालय की गोद से प्रवाहित हुईं, उसी प्रकार उसमें धर्म और दर्शन भी उपनिषद रूपी स्रोत से प्रवाहित हुए और यहां के निवासियों के मन और जीवन को उर्वर बनाते हुए सदियों की दीर्घ परम्परा तक इसकी अन्तरात्मा को सजीव बनाते रहे। वे प्रकाश पाने हेतु निरन्तर अक्षय जीवनदायी धाराओं के इस स्रोत की ओर मुड़ते रहे तथा नवीन प्रकाश देने से कभी नहीं चूके।

बौद्ध धर्म उपनिषदों के ही अनुभव के एक पक्ष का पुनः प्रतिपादन रूप में प्राकट्य था। यद्यपि वह एक नए दृष्टिकोण से बौद्धिक परिभाषा तकणा के नए शब्दों में सम्पूर्ण एशिया और पश्चिम योरुप तक पहुंचा, परन्तु सारतत्व को परिवर्तित नहीं किया। पाइथागोरस और प्लेटो की चिंतनधारा के भी अधिकांश

भाग मे उपनिषदो के सत्य मिलते हैं। जर्मन दर्शन शास्त्र का भी अधिकतर भाग अपने सारतत्त्व म इन महान तत्त्वो का ही बौद्धिक विकास रूप है।"[1] भारत के इस प्राचीन वाङ्मय मे उन सत्यो को यही अधिक आध्यात्मिक रूप से देखा था और आधुनिक विचारधारा इन्हे तीव्रता और ग्रहणशीलता से वेगपूर्वक आत्मसात् कर रही है जिससे दार्शनिक और धार्मिक दोनो प्रकार के चिंतन मे एक क्रान्ति की आशा बधती है। ऐसा शायद ही कोई प्रधान दार्शनिकविचार हो जिसका बीज या सकेत उपनिषदों म न मिल सके। यहा तक कि विज्ञान के अधिक व्यापक सिद्धांत भौतिक प्रकृति के सत्य पर सदैव उन सूत्रो का प्रयोग करते हैं जिन्हे भारतीय कालदर्शी ऋषियो ने आत्मा के गहनतम सत्य के भीतर इनके मूल अर्थ रूप मे पहले ही खोज लिया था।

उपनिषद् आत्मज्ञान, विश्वज्ञान और ईश्वरीय ज्ञान के काव्यमय स्रोत है। ये अन्तर्ज्ञानात्मक मन तथा उसके प्रदीप्त अनुभव की कृतिया हैं। इनका समस्त सारतत्त्व उनकी रचना-पदावली रूपक-माला और धाराप्रवाह उस मूल स्वरूप से निर्धारित और प्रभावित है। उपनिषदो के रूपक अधिकाश वेद के रूपको की शैली से ही विकसित हुए हैं। वैदिक भाषा में जो कुछ एक रहस्य प्रतीकात्मक शैली मे गुह्य थे उन्हे उपनिषदो में स्पष्ट शब्दो मे प्रकट किया गया है। ये एक प्रकार से वेद और ब्राह्मण ग्रथो के रूप का तथा कर्म-काण्डीय प्रतीको का स्पष्टीकरण है। वैदिक विचार और रूपक के विकास के उदाहरण रूप में श्री अरविन्द ने तैत्तरीय उपनिषद का एक सदर्भ उद्धृत किया है जिसम इन्द्र स्पष्ट ही दिव्य मन की शक्ति एव उसके देवता प्रतीत होते हैं—

'जो वेदो का विश्व रूप वृषभ है, जो अमर सत्ता से पवित्र छदो के रूप मे उत्पन्न हुआ था—ऐसा वह इन्द्र मुझे मेधा के द्वारा तृप्त करे। हे देव! मैं अमरसत्ता का आधार बन जाऊ। मेरा शरीर अन्तर्दृष्टि से परिपूर्ण हो उठे और मेरी वाणी माधुर्य से। मैं अपने श्रोतो से भूरि और बृहत् श्रवण कर सकू। क्योंकि तू ब्रह्म का कोष है जो मेधा के द्वारा गोपित और आच्छादित है।'

ऐसा एक स्थल ईशावास्योपनिषद से भी उद्धृत किया है जिसमे सूर्य देवता का ज्ञान के देवता रूप मे आवाहन किया गया है। इनका परम ज्योतिमय रूप है, भागवत आत्मा का एकत्व और यहा मन के स्तर पर विकीर्ण उनकी किरणें विचारात्मक मन का भास्वर विकिरण है, और वे उनके अपने असीम अतिमानसिक सत्य को इस सूर्य के बाह्य और आतर स्वरूप को एव आत्मा और सनातन सत्य को आच्छादित कर देती है।

इस प्रकार वेद भारतीय सस्कृति की आध्यात्मिक और मनोवैज्ञानिक बीज

१. श्री अरविन्द।

ौर उपनिषद सर्वोच्च आध्यात्मिक ज्ञान एवं अनुभव के सत्य की अभिव्यक्ति। सत्य ही सदैव इस संस्कृति का उच्चतम विचार एवं परम ध्येय रहा है। इसी वो इसने व्यक्ति के जीवन की तथा जातीय आत्मा की अभीप्सा को प्रेरित ता है।

उपनिषदों के पश्चात् एक समृद्ध एवं अद्भुत बौद्धिक विकास का युग आया समें अन्तर्ज्ञानात्मक मन की क्रियाशीलता बौद्धिक मन की क्रिया में परिणत हो ी थी जबकि जीव जगत और आत्मा को तथा उनके सभी संबंधों को तार्किक र व्यावहारिक बुद्धि के सम्मुख उपस्थित होने वाले रूप में देखने का यत्न करना ंनीय हो गया। फलस्वरूप वैयक्तिक और सामाजिक जीवन की संगत एवं वस्थित प्रणाली में एक नैतिक, सामाजिक तथा राजनैतिक आदर्श और वहार को स्पष्ट रूप में व दृढ़ता के साथ निर्धारित करने के उद्देश्य से प्रामाणिक माजिक ग्रंथों अथवा शास्त्रों का निर्माण हुआ, जिनमें से सर्वाधिक महान एवं ामाणिक है मनुस्मृति। इन शास्त्रों के रचयिताओं का लक्ष्य था वेदों और पनिषदों में लिपिबद्ध सत्य के आधार पर बने सिद्धान्तों को व्यवस्थित करके तर्क द्धि के सम्मुख सत्य सिद्ध करते हुए उस ज्ञान पर प्रतिष्ठित कुछ ऐसी साधन द्धतियों का निर्देश करें जिससे मनुष्य अपने जीवन का सर्वोच्च लक्ष्य प्राप्त कर के।

इसके विपरीत सामाजिक चिंतकों और विधायकों की कृतियों का विषय था ोक का सामान्य कार्य और व्यवहार। उस मनुष्य और समाज के साधारण जीवन ौर उसके क्रिया-कलापों तथा रीति-रिवाजों को व्यवस्थित रूप में संबद्ध करके क चिरस्थायी सामाजिक प्रणाली बनाने की चेष्टा की गयी। इसका मुख्य चार यह था मानवीय काम और अर्थ को धर्म अर्थात् सामाजिक और नैतिक वधान के द्वारा नियंत्रित किया जाय, जिससे मानव जीवन की प्राणिक, आर्थिक ौन्दर्यात्मक, इन्द्रियोपयोगवादी, बौद्धिक तथा अन्य आवश्यकताओं को प्रकृति के वधान के अनुसार यथोचित रूप में पूरा करके काम और अर्थ को आध्यात्मिक ीवन की तैयारी का रूप दिया जा सके।

महाभारत और रामायण—इस युग की रचनाओं के प्रतिनिधि हैं बृहद् हाकाव्य—महाभारत और रामायण। ये दोनों ग्रंथ अपने मूल हेतु और भावना ं महाकाव्यात्मक हैं, परन्तु ये विश्व के किसी भी महाकाव्य से सादृश्य नहीं रखते, बल्कि सर्वथा अपने ही ढंग के हैं और अपने मूल तत्त्व के दूसरों से सर्वथा भिन्न। इनका स्वरूप एक अति उन्नत बौद्धिक, नैतिक और सामाजिक संस्कृति के युग से संबंधित है—नैतिक स्वर की परिपक्व उदात्तता और परिष्कृत गम्भीरता के कारण ऊंचा उठा हुआ है।

प्राचीन वैदिक शिक्षा के अनेक अंगों में से एक था महत्त्वपूर्ण परम्परा,

इतिहास का ज्ञान—महाभारत और रामायण भी बृहत् पैमाने पर उपाख्यानात्मक परम्परा की अर्थपूर्ण गाथा रूप म ऐतिहासिक रचनाए हैं जिनका उद्देश्य अत्यन्त व्यापक और विशाल है। इनके रचयिताओ का उद्देश्य केवल प्राचीन कथा का काव्यात्मक शैली मे वर्णन करना नही था अपितु भाव के वैभव से पूर्ण काव्य की रचना करना ही था। यद्यपि ये दोनो कार्य भी इन रचनाओ म श्रेष्ठ रूप से सम्पादित हुए हैं, परन्तु वस्तुत इन महान् कृतियो के रचयिताओ ने जीवन के शिल्पियो और मूर्तिकारो तथा राष्ट्रीय चिंतन धर्म, नैतिकता और संस्कृति के अर्थपूर्ण आकारो के सर्जन शक्ति व्याख्याताओ तथा निर्माताओ के रूप मे अपना कर्तव्य समझते हुए इनका प्रणयन किया।

जीवन संबधी चिंतन का गम्भीर दबाव, धर्म और समाज संबधी एक व्यापक और जीवनप्रद दृष्टिकोण तथा दार्शनिक विचार के एक विशेष स्वर से ये दोना काव्य ओतप्रोत है और भारत की प्राचीन संस्कृति की बौद्धिक परिकल्पना तथा जीवन निरूपण की महान शक्ति के साथ इनमे साकार रूप दिया गया है। महाभारत को तो पचम वेद माना जाता है। इन दोना महाकाव्यो के विषय म कहा गया है कि य केवल कविताए ही नही अपितु धर्मशास्त्र हैं, अर्थात् एक व्यापक धार्मिक, नैतिक, सामाजिक और राजनैतिक शिक्षा के ग्रथ है और जाति के मन तथा जीवन पर इनका प्रभाव और प्रभुत्व पूर्ति महान है। उच्च दार्शनिक और नैतिक विचार तथा सांस्कृतिक आधार को जनता मे प्रचलित करना इन दोनो महाकाव्यो का लक्ष्य था।

महाभारत और रामायण चाह मूल सस्कृत म हो अथवा प्रादेशिक भाषाओ मे अपनी जीवतता और हृदयग्राही प्रभाव के कारण पाठ करने वालो अथवा कथावाचको एव गायको के द्वारा जन-साधारण तक पहुचकर लोक-शिक्षा और लोक-संस्कृति के साधन बन गये। जो गम्भीर दार्शनिक सत्य सूत्र बुद्ध भाषा मे सुशिक्षित वर्ग के लिए वेदो और उपनिषदो धर्मशास्त्र अर्थशास्त्र मे बद्ध थे उन्हे यहा सजीव अलकारो के रूप म प्रस्तुत करके किसी परिचित कहानी और उपाख्यान के साथ जोड दिया गया जिसे सभी लोग सहज मे आत्मसात् कर सकते थे, क्योकि वह बातें अन्तरात्मा की कल्पनाशक्ति और बुद्धि को एक साथ आकर्षित करने वाली थी। इस प्रकार उन महाकाव्यो ने भारतवासियो के विचार, चरित्र और धार्मिक मन का गठन किया।

विशेषकर महाभारत एक अर्थपूर्ण कथा है जो आद्योपात भारतीय जीवन और संस्कृति के केन्द्रीय विचारो और आदर्शो का प्रतिनिधित्व करती है।

रामायण भी मूलत महाभारत से मिलती जुलती रचना है। इस महाकाव्य के रचयिता ने भी इतिहास को अर्थात प्राचीन भारतीय वश से सम्बद्ध एक पुरातत्त्व आख्यायिका को ही अपना विषय बनाया है और उसमे पौराणिक गाथा

या लोक-कथाओ से संग्रहीत विवरणों को सन्निहित किया है, परन्तु इस सबको एक महाकाव्यत्व के स्तर पर उठा ले गए है और काव्यात्मक उष्मा और रग की गरमा प्रति सुन्दर बन पडी है। इस ग्रन्थ मे महाभारत की अपेक्षा दार्शनिक मनोवृत्ति कम है और शुद्ध कवि की अधिक। इसकी योजना अपेक्षाकृत सरल है, आदर्शात्मक प्रकृति अधिक सुकुमार है।

जहा महाभारत की रचना शक्ति, सशक्त कारीगरी और क्रम पद्धति हमे भारत के कला शिल्पियो की याद दिलाती है वहा रामायण की रूपरेखा की गरिमा और सुस्पष्टता, उसके रगो का वैभव और सूक्ष्म आलकारिक विधान विशेषत साहित्य मे भारतीय चित्रकला की भावना और शैली की छाप को सूचित करते हैं। रामायण का विषय महाभारत जैसा ही है। आर्थिक जीवन मे दानवीय शक्तियो के साथ दैवी शक्तियो का सघर्ष रामायण मे भारतीय कल्पना शक्ति के लिए चरित्र सबधी उच्चतम मानवीय आदर्शों को मूर्त रूप प्रदान करते हुए वक्त, साहस, सज्जनता, पवित्रता, विश्वासपात्रता और आत्मोत्सर्ग के भावो का परिचय अत्यन्त मनोरम ढग से कराया गया है। भारत के सास्कृतिक मानस को ढालने मे महर्षि वाल्मीकि ने एक अपरिमेय शक्तियुक्त साधन के रूप मे कार्य किया है। हमारे राष्ट्रीय चरित्र के सर्वोत्तम और मधुरतम तत्त्वो मे से बहुत का गठन इस महाकाव्य द्वारा हुआ है।

इन महाकाव्यो की कवित्व शैली इनके सारतत्त्व की महानता से निम्न कोटि की नही है। जिस शैली और छद मे ये लिखे गए हैं उनमे बराबर एक उदात्त महाकाव्योचित गुण है उच्च स्तरीय सरलता और स्पष्टता जो अभिव्यजना मे समृद्ध है।

सस्कृत भाषा की प्राचीन उच्च कोटि की रचनाए अपने गुण तथा उत्कर्ष के स्वरूप मे मौलिकता, वैभव तथा भाव पक्ष की उच्चता और विशालता मे विश्व के महान साहित्यो मे अग्रगण्य है। उच्चकोटि के विचारशील साहित्यिकों ने स्वीकार किया है कि स्वय सस्कृत भाषा ही प्रत्येक महान्, पूर्ण और समर्थ साहित्यिक साधनो मे से एक है। वह अतिमव्य मधुर ओजस्वी होने के साथ समृद्ध और स्पन्दनशील एव सूक्ष्म है। उससे ये गुण और स्वरूप जिस सस्कृति को प्रतिबिम्बित करने के लिए सस्कृत भाषा माध्यम बनी उसकी उदात्तता और विशिष्टता के द्योतक हैं।

यद्यपि प्रचुर सख्या म भारतीय साहित्य की उत्कृष्ट रचना सस्कृत मे हुई परन्तु केवल सस्कृत मे नही पाली भाषा मे रचित बौद्ध साहित्य और सस्कृत से उद्भूत लगभग बारह द्रविड भाषाओ का प्रचुर श्रेष्ठ साहित्य भी पूर्णरूपेण मूल्य आकने की दृष्टि से गणना किया जाना चाहिए। यहा महान दार्शनिक, राजनीतिज्ञ और उच्चकोटि के साहित्यकार योगी अरविन्द के उद्गार उल्लेखनीय हैं—"जो

जाति और सभ्यता अपनी महान कृतियो, वेद और उपनिषदो को, महाभारत और रामायण की शक्तिशाली रचनाओं को तथा कालिदास, भवभूति, भर्तृहरि और जयदेव को गिनती है और उच्चकोटि के नाटक, काव्य और रूमानी उपन्यासो की रचनाओ का, धम्मपद एव जातक ग्रथ, पचतन्त्र और हितोपदेश जैसे चरित्र-निर्माता कथा साहित्य एव कबीर, मीरा और दक्षिण के शैव भक्त के अनेक सतो की भक्ति रचनाए जिसकी समृद्धि है उस जाति और उस सभ्यता को निश्चय ही ससार की अत्यन्त विकसित एव सर्जनशील जातियो मे और विश्व की महान सभ्यताओ मे गिनना होगा।"[1]

इतनी महान और उच्चकोटि की क्रियाशीलता जिसका सूत्रपात हुए तीन सहस्र वर्षों मे अधिक हो गए और अब तक जीवित है यह भारतीय संस्कृति के भीतर किसी असाधारण रूप से प्राणवन्त वस्तु के विद्यमान होने का प्रमाण है।

साधारणतया यह माना जाता है कि भारतीय संस्कृति मे आध्यात्मिक भावना की प्रबलता है और एक प्रकार से यह सत्य भी है। परन्तु यहा की संस्कृति का यह आध्यात्मिक स्वर सासारिक जीवन की उपेक्षा करने वाला नहीं है। इतना ही नही कि उसमे साहित्य, विज्ञान अथवा राजनैतिक और सामाजिक पक्ष किसी प्रकार उपेक्षित नही हुए है, बल्कि भारतीय संस्कृति की इन सभी विधाओ मे आध्यात्मिकता और आत्मिक भावना ने एक सौंदर्य तथा जीवन के प्रति सत्य शिव सुन्दरम् की भावना का उन्मेष हुआ है।

भारतीय संस्कृति मे कला पक्ष पर विचार करते हुए प्रतीत होता है कि अत्यन्त प्राचीन काल से यहा सब प्रकार की कलाए उच्च स्तरीय रही है। स्थापत्य कला तथा मूर्तिकला यहा की धार्मिक भावनाओ और आध्यात्मिकता की अभिव्यक्ति से विश्व भर मे अपनी विशिष्टता रखती है। चित्रकला इनकी अपेक्षा समुचित साधनो और वातावरण के अभाव मे अधिक विकसित नही हुई, यद्यपि बीच-बीच मे उभरती रही और कई शताब्दियो के बाद मुगल राज्य म उसका सम्यक् विकास हुआ जिसके चिह्न अभी तक अजन्ता की गुफाओ के चित्रो मे विद्यमान हैं। चित्रकला की सामग्री अपेक्षाकृत शीघ्र नष्ट हो जाती है अत वह सौंदर्य और रगो के प्रभुत्व की दृष्टि स अपने मूल भाव मे दर्शनीय नही रही है।

भारतीय कलाकार बाहरी दृश्यो की अपेक्षा आध्यात्मिक और मनोवैज्ञानिक होता है। इसलिए उसकी कला मे गम्भीर आन्तरिक शक्ति से उद्भूत परम तत्त्वो की अभिव्यक्ति पायी जाती है। जबकि पाश्चात्य कला मे बाहरी दृश्यो से उद्भूत रूप-रग के चित्रण की प्रधानता होती है जो इन्द्रियजनित है।

---

१. फाउडेशन्स ऑफ इडियन कल्चर, पृ० ३०७

पाश्चात्य कला से भारतीय कला का दृष्टि-भेद

पाश्चात्य कलाकार का आधार बाह्य संसार है, जिसे अपनी दृष्टि के सामने रखकर वह सूक्ष्म तर भाव को अभिव्यक्त करने की चेष्टा करता है। उसकी कल्पना भौतिक संसार तक ही सीमित रहती है। जबकि भारतीय कलाकार अन्त प्रेरणा से बाह्य संसार के पदार्थों को रूप-रंग देकर उनमे आत्मिक सामंजस्य उपस्थित करता है।

भारतीय कला की इस विशिष्टता को दृष्टि मे रखकर ही यहा की कला के विभिन्न रूपो मे वर्तमान सौंदर्य और आध्यात्मिक स्पन्दनो को पहचाना जा सकता है।

महर्षि अरविन्द ने कहा कि भारतीय मस्तिष्क आध्यात्मिक और मनोवैज्ञानिक जिज्ञासा से प्रेरित होकर कलात्मक कृतियो की सर्जना करता है जबकि पाश्चात्य प्रकृति का सौंदर्य-प्रेम बौद्धिक भावनात्मक और कल्पना से उद्भूत है।

संगीत और नाट्य कला

भारतीय संगीतशास्त्र विश्व में अपना प्रमुख स्थान रखता है। यहा का शास्त्रीय संगीत अत्युच्च स्तर का है। स्वर, ताल, लय के साथ गायी जाने वाली *विभिन्न राग रागनिया अमित प्रभाव वाली होती हैं। यहा का संगीत मात्र मन-* बहलाव और मनोरंजन का साधन नहीं, मनोरंजन भी होता है, परन्तु वस्तुत भारतीय संगीत शास्त्र म संगीत को परमात्मा से योग स्थापित करने का प्रमुख साधन माना गया है।

भारत साहित्य-कला मूल विशेष रूप से नृत्य, गायन और अभिनय की प्राचीनतम केन्द्र स्थली है। नाटक के पंचम वेद के उदय [illegible] भी पूर्व, यहा लोक-नाटक या लोक धर्मी नाट्य परम्पराए अपना रूप ग्रहण कर चुकी थी जिन्होंने नाटक के पंचम वेद की निर्माण शिला का काम किया।

लोक-कला शास्त्रीयता की मुखापेक्षी नहीं होती, वह लोक-जीवन की गरिमा से अनुप्राणित होती है। नाटक की लोक-जीवन से सम्बद्ध कोई परम्परा अपने ऊपरी ताने-बाने से चाहे कितनी भी नवीन लगे, परन्तु उसकी प्राणवायु परम्परागत रजकणों से ही स्पन्दन ग्रहण करती है। बिना अतीत मे झाके किसी भी लोक परम्परा को सही रूप म नही समझा जा सकता।

जब हम वर्तमान संगीत विधा की ओर दृष्टिपात करते हैं तो इसके ताने-बाने म व्याप्त अनेक लोकधर्मी प्राचीन नाट्य विधाओं की झलक आखों के सामने झूमने लगती है। इसके नाट्य रूप का गंभीरता से अध्ययन करने पर यह स्पष्ट हो जाता है कि यह शैली प्राचीनतम लोकधर्मी नाट्य परम्पराओं से जुड़ी है।

अमृतलाल नागर का मत है कि यह सगीत परम्परा पृथ्वीराज चौहान के समय से आरम्भ हो गई थी। अत ग्यारहवी-बारहवी शताब्दी नौटकी का उदयकाल माना जा सकता है।

सगीत (नौटकी) विधा प्राचीन भारतीय नाट्य विधाओ गाथा, गायन परम्परा, लोकवार्ता तथा लीला नाटको से भी जुडी है—अत इसका मूल खोजना बडा कठिन है।

भारतीय नाटक के समग्र इतिहास की सर्वाधिक सुदृढ कडी हमारे ये लोकधर्मी नाटक ही हैं—इनके अध्ययन के बिना भारतीय रगमच का इतिहास पूरा खडा नही किया जा सकता।

वर्तमान सगीत परम्परा ही भारत की एकमात्र ऐसी गीति नाट्य विधा है जो इस देश के राष्ट्रीय ओपेरा की आधार शिला बन सकती है। भारतीय नाट्य विधा की यह जीवित परम्परा साहित्य सगीत अभिनय कला की ऐसी त्रिवेणी है जो लोक-जीवन मे घुली मिली होकर भी शास्त्रीयता से प्रेरणा ग्रहण करने मे नही हिचकिचाती। प्राचीन नाट्य परम्परा के विभिन्न तत्वो का समन्वय इस परम्परा मे बडी कुशलता से हुआ है—और यह भूतकालीन लोकधर्मी नाट्य परम्परा की कडी होते हुए भी वर्तमान स पूरी तरह जुडी है।

नाट्य कला—नाट्य कला भी बीज रूप मे वैदिक काल म विद्यमान थी, यद्यपि नृत्य-गान आदि के साथ इस कला का विकास वैदिक कला के पीछे हुआ पाया जाता है।

नाट्य लक्षण-ग्रन्थो मे प्राचीनतम प्राप्त ग्रन्थ भरत कृत नाट्यशास्त्र मे नाट्यकला की उत्पत्ति दैवी बताई है। त्रेता युग के प्रारम्भ मे सृष्टिकर्ता ब्रह्मा जी ने देवताओं की स्तुति पर नाट्य वेद की रचना की थी। ऋग्वेद से कथोपकथन, सामवेद से गायन, यजुर्वेद से अभिनय कला और अथर्ववेद से रस लेकर इसका निर्माण किया गया। विश्वकर्मा ने रगमच बनाया, शिव ने ताण्डव तथा पार्वती ने लास्य नृत्य बतलाए और विष्णु ने चार नाट्य शैलिया बतलाईं। इस प्रकार निर्मित *दैवी नाट्य वेद को इसके अनतर पृथ्वी पर मनुष्यो के लाभार्थ भेजने का कार्य* भरत मुनि को सौंपा गया?

यूनानी प्रभाव ही से भारतीय नाटक रचना को प्रोत्साहन मिलना दिखलाने के लिए यूरोपीय विद्वानो न भास कालिदासादि के समय को यथाशक्ति इधर लाने का प्रयत्न किया और करते आ रहे हैं, यदि वे भास, कालिदासादि को ईसा से पूर्व की प्रथम शताब्दी मे मान लें तो यूनानी प्रभाव का कथन निरर्थक-सा हो जाता है और इसी कारण वे इनकी उतनी प्राचीनता मानने म सकुचाते हैं। इस पर विचार

---

१. सगीत एव लोक नाट्य परम्परा—श्री रामनारायण अग्रवाल।

करने से पूर्व ग्रीक नाटको के इतिहास पर ध्यान देना आवश्यक है। ग्रीस मे ईसा से पूर्व एक शताब्दी के बाद नाट्यकला का एकदम ह्रास हो गया था और यूरोप मे अन्यत्र सोलहवी शताब्दी ईसवी म पुन उसका उत्थान आरम्भ हुआ था। अन्य कई तथ्यो की खोज से निष्कर्ष यह निकलता है कि भारतीय नाट्यकला पर ग्रीक प्रभाव स्थापित करने की यूरोपियन विद्वानो की चेष्टा भी निष्फल हो रही है।

मिनेंडर के समय मे ग्रीस तथा रोम तक म नाट्य रचना तथा अभिनय का ह्रास हो चुका था अत यदि भास का समय प्रथम शताब्दी मान लिया जाय तब ग्रीक प्रभाव का कथन कपोल-कल्पना मात्र रह जाता है। भास के शास्त्रानुकूल सुगठित नाटको के बनने तथा भरत क नाट्यशास्त्र के समान ग्रन्थ की रचना के विकास के लिए कम से कम तीन चार शताब्दी का समय व्यतीत हो चुका था और वह समय सिकदर के यहा आने के बहुत पहले पहुच जाता है।

इस प्रकार विदित होता है कि भारतीय नाट्यकला ग्रीक नाट्यकला से पूर्व की है।

४

विभिन्न कलाएं

भारतीय सस्कृति मे विभिन्न कलाओ का महत्वपूर्ण स्थान है। भारत की कला केवल भारतवर्ष मे ही सार्वभौम तत्त्वज्ञान और विशिष्ट प्रकृति की अभिव्यक्ति तथा स्पष्टीकरण का माध्यम नही रही है बल्कि दूर देशों तक मे यहा से तत्त्व-ज्ञान का प्रचार और प्रसार कला के माध्यम से होता रहा है। लगभग दो सहस्राब्दियो से एशिया के आचारो, मूल्यो और मनोभावो के गहन म भारतीय कला की ऐतिहासिक भूमिका स्पष्ट होती है।

भारतीय कला का मूल स्वर मानव हृदय की आन्तरिक दिव्य अनुभूतियो, आध्यात्मिक स्पन्दनो और धार्मिक आस्थाओ को मूर्त रूप देता है चाहे वह स्थापत्य अथवा मूर्तिकला हो, शिल्पकला हो, अथवा चित्रकारी।

एशिया मे बौद्धकला ने बुद्ध के वैराग्य बोध और भिक्षा की ऐतिहासिक घटना और आत्मज्ञान को प्रचारकर्ता के रूप म मूर्तिकला क माध्यम से निरूपित किया है। तथागत बुद्ध के चमत्कारो के चित्रण मे मानव की आत्मा को अनुप्रेरित करके उसे शान्ति और महानता की ओर प्रेरित किया है। साची, गाधार, अजन्ता और अमरावती आदि स्थानो म यह बौद्ध कला भली प्रकार विकसित हुई। अफगानिस्तान, मध्य एशिया चीन, जापान, जावा व स्याम के कुछ भागो मे बुद्ध की भव्य मूर्तिया भारतीय तत्त्वज्ञान से ही उत्पन्न हुई हैं। इन मूर्तियो से झलकने वाली अगाध शक्ति और स्पष्टता से युक्त उनकी करुणामयी झलक मथुरा सारनाथ अमरावती, अजन्ता और नालन्दा की कला-आकृतियो का अनुसरण करती हुई प्रतीत होती है। निर्वाण का बौद्ध आदर्श सर्वत्र मूर्तिकला के माध्यम से ही अभिव्यक्त हुआ है।

भारतीय कला का मूल गुण लका, सुदूर भारत और इन्डोनेशिया तक ही सीमित नही रहा बल्कि और आगे विकसित होता हुआ उपनिवेशो तक पहुचकर अपनी पूर्णता को प्राप्त हुआ। यहा की कला एशियायी एकता के स्रोत उपाख्यानो और प्रतिभाओ का अग्रदूत और दिशावाहक रही है।

भारतीय कला अपनी विशिष्ट मानववाद और करुणा की अभिव्यजना मे

द्वीपान्तर भारत की उष्ण प्रदेशीय उर्वरता के बीच भी पहुंची पायी जाती है। आज संसार के सबसे भव्य और विशाल हिन्दू तथा बौद्ध मंदिर जावा में, कोयम्बटूर और कम्बोडिया में, अंकोरयम तथा बर्मा में बने हुए हैं। यह एशिया के उत्कृष्टतम मंदिर हैं। सबने ही अपनी शक्ति और वास्तुकला से भारत को विश्वविख्यात बनाया। इन मंदिरों की भित्तियों पर रामायण, महाभारत, हरिवंश, विष्णुपुराण और जातक की कथाएं चित्रित हैं तथा असंख्य भेंट की वस्तुओं और लेखों में भारतीय धर्म और सदाचार अंकित हुए हैं। कम्बोज के एक लेख में,शिव नाटेश्वर और नाटकेश्वर दशभुज का उल्लेख है जबकि दक्षिण भारत की भांति शोभायात्रा निकालने में शिव के उत्सव रूप का उल्लेख भी है। लगता है कि ८७७ ई० में राज्यारोहण करने वाले कम्बोज देश के एक राजा इन्द्रवर्मन स्वयं बड़े कलाकार और शिल्पी थे। उन्होंने अपनी कल्पना के आधार पर कई मंजिलों का उत्कृष्ट सुनहला महल बनाया और अपने ही नमूने की (स्वशिल्प रचित) शिव, पार्वती और देवों की क्रमशः तीन मूर्तियां स्थापित की।

अश्वत्थामा के शिष्य रूप में प्रख्यात एक भारतीय ब्राह्मण कौण्डिल्य के निदेशन में दूसरी शती ई० में जहां हिंदू उपनिवेशवाद का प्रारम्भ हुआ, वह कम्बोज या यूनान, एशिया की सभ्यता को भारत की सर्वश्रेष्ठ भेंट हैं।

भारतीय कला की सर्वोपरि विशिष्टता यह है कि यहां कला के माध्यम से धर्म और अध्यात्म का प्रचार और प्रसार हुआ है। और उपनिषदों की शाश्वत वाणी कलात्मक मूक चित्रों और मूर्तियों की भाव-भंगिमाओं द्वारा मुखरित होकर मानव हृदय को स्पर्श करती हुई देश विदेश में यहां की संस्कृति का डंका बजा रही है। गुप्त एवं मौर्य राजाओं का काल इस दिशा में स्वर्णकाल माना जाता है। कुषाण सम्राटों के संरक्षण में गान्धार शैपानाम से रोमनीय बौद्ध कला का जन्म हुआ। क्रमशः यूनानी रूपों और विषय-वस्तुओं को भारतीय विषयों और परम्पराओं में आत्मसात करते हुए कला को धर्म और संस्कृति के प्रचार का माध्यम बनाया गया। लोगों में धार्मिक भावना के कारण कला ने विशाल परिमाण में विशिष्ट मूर्तिकला की बुद्ध प्रतिमाओं का निर्माण किया।

प्राचीन यूनानी और भारतीय तथ्यों के संयोग से अद्भुत परिणाम उत्पन्न हुए। गान्धार में प्रारम्भ में बौद्ध सम्प्रदाय ने यथासम्भव भारतीय परम्परा का अनुसरण किया, किन्तु क्रमशः गान्धार शैली के बुद्ध ने रोमन कलाविधि और मूर्ति निर्माणकला से अपने को मुक्त कर लिया और अधिक प्रतीकात्मक, आध्यात्मिक और भारतीय हो गया। यह अपने समय और ध्यान मुद्राओं सहित शान्त और मौन योगी की प्राचीन भारतीय धारणा के अन्तर्गत थे। ध्यानस्थ बुद्ध और बोधिसत्व की प्रतिमाओं के साथ हजारों स्तूपों, उपासना-गृहों और मठों के निर्माण में लगभग पांच शताब्दियों तक अनुपम धार्मिक उत्साह ने उत्तर पश्चिम

को क्रमशः एक दूसरे बौद्ध धर्म के पवित्र देश मे परिवर्तित कर दिया।

दूरस्थ खोतान तक मे साधारण जन से प्रतिदिन श्रद्धापूर्वक पूजा प्राप्त करने वाली मूर्तियो सहित अनेक स्तूप थे—विदेशी यात्री फाह्यान ने इन सब का वर्णन किया है। अनेक पवित्र स्मृतिचिह्न गगा के पावन देश से उत्तर पश्चिम चले गये और राजाओ व जनसाधारण को स्वास्थ्य, शान्ति एव सम्मान प्रदान करने के प्रयोजन से निर्मित स्तूपो मे स्थापित किये गये। पेशावर मे अशोक ने उस स्थान पर एक स्तूप बनवाया जहां एक पूर्वजन्म मे बुद्ध ने अपनी आखो की भेंट की थी और कनिष्क ने उस स्थल पर, जहा पिछले अस्तित्व के चार बुद्ध पीपल के नीचे बैठे थे। यही पर कनिष्क ने प्रसिद्ध स्तूप और स्मृतिचिह्नो से भरी मीनार भी बनवाई थी।

तक्षशिला मे सम्राट अशोक ने, उपस्थान पर एक स्तूप बनवाया जहा अपने एक पूर्वजन्म मे बुद्ध ने अपने सिर की भेंट की थी। अशोक और कनिष्क बचपन से स्तूपो सहित कश्मीर भी प्रबल बौद्ध मत का केन्द्र था। ऐसा प्रतीत होता था कि बोध गया, सारनाथ और श्रावस्ती की शान्ति और स्थिरता अफगानिस्तान, पजाब और कश्मीर के उबड़-खाबड भू-दृश्य पर आकर स्थायी रूप से टिक गये हैं जो कि इस सहस्राब्दि की प्रारम्भिक शताब्दियो मे गहन धार्मिक जागृति के सक्रेन्द्र और मध्य एशिया के कारवा मार्ग के द्वारा प्रबल धर्मान्तरण आन्दोलन के अग्र भाग बन गये।

प्रभु के रूप के गहन प्रेम और भक्ति ने, चाहे भारत मे हो या चीन मे, बौद्ध कला को मानवीय माधुर्य, मृदुलता और ओज प्रदान किया—बौद्ध कला की विशिष्टता है। मानव आकृति को नैतिक मूल्य देन मे बौद्धकालीन भारतीय कला की गान्धार शैली मे मथुरा और सारनाथ के प्रभाव ने एक गौरव-मृदुलता और कोमलता के साथ उस गहन चिन्तनशील अमूर्तता का विकास हुआ, जो भारत से तुर्किस्तान, मध्य एशिया और चीन को गई और जिसने शीघ्र ही यूनानी, ईरानी या फारसी रूपो को प्रभुत्वहीन कर दिया—यूरोप को उस रहस्यात्मक उत्कर्ष को प्राप्त करने मे दस या अधिक शताब्दिया अधिक लग गई जो अलौकिक आदर्श समन्वित गोथिक मानव रूप दे सकता।

चाहे पूर्व हो या पश्चिम, धार्मिक भावावेग के महान् युग गौरवपूर्ण कलात्मक अभिव्यक्ति के युग होते है। धर्म और कला दोनो ही मानव मात्र की अनन्त प्रेम, भलाई और करुणा की पुन-पुन आने वाली बुभुक्षा को शान्त करते रहते हैं। भारतीय कला की सामान्य प्रकृति के अनुसार यहा की मूर्तिकला मे भौतिक इद्रियो से गहन किये हुए भावो की अपेक्षा आध्यात्मिक अनुभवो और स्पन्दनो को ही मूर्त रूप दिया गया है। कलाकार की दृष्टि मनोवैज्ञानिक रूप से दृश्यो को देखकर अपनी कला के बल पर उन्हे भौतिक रूप प्रदान करती है। सर्वश्रेष्ठ

भारतीय मूर्तियों मे जो उच्च भाव और मानवीय आकार का सौन्दर्य है उसमें एक आध्यात्मिक सौंदर्य की अभिव्यक्ति है, क्योंकि उसका आधार बाहरी भौतिक प्रकृति के स्थान पर आन्तरिक स्फुरणा होता है। उसका आदर्श एक दिव्य भाव और सदर्भ तत्वो को मूर्त रूप देना होता है।

कुछ अशो मे भारतीय मूर्तिकला का अपने निजी आदर्श और परम्पराओ का अनुसरण करता है जो कि सूक्ष्मता और प्रतिभन के बल से पत्थर और धातु के टुकडो प इतने शक्तिशाली प्रबल भावो का समावेश कर देता है, जिसमे लोगो की अन्तरात्मा को प्रभावित करने की शक्ति जागृत हो जाती है। यद्यपि कला के अन्य रूपो की भांति यहा की मूर्तिकला भी बाहरी प्रभावो और आन्तरिक झगडो के फलस्वरूप अपने स्वरूप और स्तर को कायम नही रख सकी परन्तु अब भी उसके भीतर वह आध्यात्मिक ज्वाला धधक रही है जो समय पाकर पुन न केवल अपने पूर्व रूप को प्राप्त कर ले बल्कि उसमे एक नया स्पन्दन और प्राचीन आध्यात्मिक प्रकृति की अनुपम शक्ति जागृति होने की क्षमता है।

समुद्रगुप्त का सगीत ज्ञान हमारे इतिहास में अंकित है। इस कला के अनेक विद्वानों को राजधरानो मे प्रोत्साहन मिलता था।

गुप्त साम्राज्य मे सगीतकला सर्वोपरि थी। वास्तुकला और चित्रकारी विशेषकर पाचवीं शताब्दी में गुप्तकाल मे अत्युच्च स्तर को प्राप्त किये थी।

भारत म राजपूताना शास्त्रीय सगीत का महत्वपूर्ण केन्द्र था, जैसा कि 'सगीतराज' से प्रकट है, जिसके लेखक महाराणा कुभा थे। किसी ऋतु और दिन और रात्रि के प्रहर के विशिष्ट व्यापी भाव या वृत्ति को जगाने के लिए विशिष्ट रागो और रागनियो की उपयुक्तता को राजपूताना के कलाकार पूरी तरह समझत थे। आरछा से राजस्थानी शैली को पुनजागरण काल क देने योग्य है। वह शिव की अर्धांगिनी उमा है, पूजा के निमित्त शरत् प्रभात मे मदिर को जा रही है। यह रागिनी भारतीय गायको द्वारा भोर मे भैरवी ठाट मे गायी जाती है जो जीवन की व्यर्थता और अस्थायित्व का तीव्र भाव जागृत करती है। इसी प्रकार वसन्त म गायी जाने वाली वसन्त रागिनी के प्रतिरूपण मे हम वसन्तराज को अपना प्रियतमा के साथ विलास करत पाते हैं।

भारतीय दृश्य की परम्परागत छ ऋतुए भारतीय सगीत पद्धति के छ रागो द्वारा प्रतिरूपित होती हैं, अर्थात् भैरव, मल्हार, श्रीराग, हिंडाल या वसन्त, दीपक और मेघ। छत्तीस रागो मे से प्रत्येक राग अपनी नायिका (रागिनी) से सम्बद्ध है। वह दिन या रात के समय और ऋतु के लिए उपयुक्त वृत्तियों और भावनाओं को प्रतिरूपित करता है, जिसमे गायक और चित्रकार दोनो को गान मे और चित्राकन मे बहुविध कल्पनाओ को उपस्थित करने के लिए भव्य विस्तार दिया जाता है। रागों का चित्रण, चित्रमयता से प्रत्येक ऋतु का उपयुक्त

करता है—इसी प्रकार भित्तिचित्रो मे उतनी ही अधिक पावनता और कोमल मानवीय अवसादो का प्रत्यक्षीकरण है, जितना मुद्राओ और मन स्थितियो के विस्मयजनक प्रकारो के स्त्री रूपो के सौंदर्य और ऐन्द्रिक पूर्णता मे अजन्ता और बाघ मे महायान सम्प्रदाय का सार—जीवन की समति, समग्रता और व्यापकता—चित्रकला को महान शास्त्रीय अभिव्यजना से युक्त करता है। मानव-प्रेम के सयोग-वियोग, सुख-दुख, उद्वेग और करुणा, सेनाओ के प्रयाण, राजदरबार की मजलिसो, पशुओ के खेल, वृक्षो के रस की खोज मे चीटियो के जुलूस के नाटक तथा बुद्ध के पूर्वजन्मो की पवित्र घटनाए आदि सब यहा के भित्तिचित्रो म निरूपित हुए हैं। अजन्ता के भित्तिचित्रो मे समस्त जीवन और उसकी क्षणभगुरता एव निस्सारता का भान जीवन और आकाक्षा के अविभक्त स्पन्दनशील रूपाकार मे पूर्णतया अभिव्यक्त है।[1]

भारतीय कला में वैदिक विषय और प्रतीक

भारतीय कला के क्षेत्र मे वैदिक सस्कृति ने मौलिक विषय और प्रतीक दिए हैं, जैसे स्वस्तिक, कमल, शख, छत्र, वेदी, चक्र, सूर्य, वज्र, नाग-गरुड, कल्पवृक्ष और पूर्ण कलश जो कि उत्तरोत्तर युगो मे उद्धृत होते रहे हैं। यह प्रतीक ब्राह्मणो के वैदिक उत्तराधिकार के भाग हैं। वेदो और उपनिषदो का विश्व वृक्ष, जिसकी अधिष्ठान्त आत्मा यक्ष कही जाती है, साची, भारहुत और अमरावती की बौद्ध कला का प्रतीक है। अमरावती मे बुद्ध का प्रतिरूप अग्नि स्तम्भ उस वैदिक आख्यान का स्मारक है, जिसम अग्निदेव पृथ्वी और स्वर्ग को अलग करते हुए विश्व के स्तम या धुरी के रूप मे प्रकट होते हैं। श्री लक्ष्मी का प्रतिरूपण साची, भारहुत और बोधगया मे उन्हें हाथियो से स्नान कराते हुए उपनिषदो के श्री सूक्त और ब्राह्मण ग्रथो के प्रायः अनुरूप ही होता है। उद्भूत मे हाथी वर्षा के उन बादलो के प्रतिरूप होते है, जो अपनी वर्षा से लक्ष्मी के प्रतीक सम्पत्ति, समृद्धि और सुख को लाते हैं। एलोरा के कैलाश मदिर (८वी शती) के द्वार पर ही लक्ष्मी का प्रतिरूपण है। देवी के दोनो ओर दाहिने-बाए दो चतुर्भुज देविया हैं जिनके हाथ मे अमृत घट हैं। दो स्वर्ग के हाथी उल्टे घट से देवी पर पवित्र जल उडेल रहे हैं। पादपीठ के नीचे मुकलित पुष्पो, कलियों और पत्रो सहित कमल सरोवर है, जिसमे दो नाग अमृत ग्रहण करने के लिए घट लिये हुए हैं। चूकि सूर्य ब्रह्माण्ड की तलय का निरूपण करता है, अधिक अर्थपूर्ण सूर्यचक्र या कालचक्र को ऋग्वेद की कल्पना से बौद्ध प्रतिमान के चक्र या धर्मचक्र का बौद्ध प्रतीक है। चक्र ब्रह्माण्ड है और जो चक्र की नाभि या मध्य भाग पर आसीन है,

१. भारतीय कला का विकास, पृ० २३६ (राधाकमल मुखर्जी)

वह सत्ता है। प्रारम्भिक बौद्ध कला मे अत्यधिक महत्त्वपूर्ण मुकुलित फैलता हुआ कमल अस्तित्व का वैदिक प्रतीक है। ऋग्वेद अग्नि को समस्त सत्ता का आधार, कमल से उत्पन्न कहता है, जबकि उपनिषदो और ब्राह्मण ग्रन्थो मे कमल उस हृदय मे अन्तरिक्ष के साथ समस्थानीय व्योम है, जो जीवन और विश्व अथवा उस पात्र का पोषण करता है, जिस पर ब्राह्मण द्वारा ब्रह्मा की सृष्टि हुई है। ऋग्वेद अग्नि या वशिष्ठ का जन्म सृष्टा के रूप मे ब्रह्मा प्रजापति के जन्म का मूलादर्श है जो गुप्त और नव ब्राह्मण कला म प्रतिरूपित हुआ है। एक बहुत ही लाक्षणिक वैदिक कला विषय निरूपित है, जिसे ओ० सी० गागुली उपयुक्त भारतीय ड्रगन कहते है, जो इन्द्र द्वारा दो टूकडे किया, चक्कर काटता सरीसृप वृत्त है। यह बाद के गुप्त स्तम्भ पर अलकरण की भाति प्रदर्शित है और अब इलाहाबाद नगर महापालिका के सग्रहालय मे है।

चित्रण विषय मे सर्प उलटे हुए और चक्कर काटती मुद्रा मे मुह फाडे अग्नि और सोम को उगल रहा है। उसे शरीर के ऊपरी और निचले भाग आकार-मूलक शैली मे ढले शरीर को इन्द्र द्वारा दो भागो म अलग करने का निर्देश करते हैं, किन्तु कान खडे किए सिंह का मुख पशु की पीडा प्रदर्शित करता, जबकि वह चीखकर इन्द्र से कहता है, 'वज्र मत मारो ! मुझे केवल काट डालो !' इसी प्रकार प्राचीन काल का विषय हस है, जो इसी स्तम्भ के दूसरी ओर है। हस की प्रतीकात्मकता भी वैदिक आख्यान म मूलबद्ध है। अलकरण मे हस अपने मुह से बौछार करता निरूपित है। और भी कई स्थानो मे हस के मुह मे फुआर लिय विरूपित है। सोमनाथपुर के होयसल मदिर मे हसो की पक्तिया मकर के साथ-साथ खम्भे के ऊपर के आलकारिक भाग पर फैली हुई है।

वैदिक साहित्य की परम्परा मे एक और अलकरण का विषय कल्प द्रुम या कल्पवृक्ष है। इसमे द्रुम और लता दोनो ही साची भारहुत और अमरावती के भवन निर्माण मे मिलते है। गुप्त काल और मध्य भारतीय लक्षण म कल्प लता मदिरो के भीतरी द्वार पक्षो म मिलती है। कुमारस्वामी का कहना है कि भारतीय कला की प्रतीकात्मकता और प्रतिमाकला प्राय सदैव ही वैदिक नियमन से निर्देशित की जा सकती है। इन स्रोतो के अतिरिक्त प्रतीकात्मकता और मूर्ति-कला की व्याख्या नही हो सकती, उसका केवल वर्णन किया जा सकता है।

इसी प्रकार भारतीय कला के पुरावृत सामान्यत वैदिक साहित्य की परम्परा से उत्पन्न हैं। देवासुर सग्राम के समान सुप्रसिद्ध वैदिक पुरावृत माया या सृष्टि शक्ति को दुर्बोधता, क्षीरोदधि मे या शेषनाग पर परमेश्वर का शयन। इन सबने भारतीय कला को शक्तिशाली विषय दिये हैं, जिनसे

ुगों से जीवन, मन और विश्व-प्रसग की व्याख्या होती रही है और वे स्पष्ट होते हैं ।

अन्त्ययुगीन प्रस्तर एव ताम्र सस्कृतिया

दुनिया के किसी भी देश मे आर्थिक महत्त्व की सबसे बडी घटना लोहे का आगमन और विशेषकर खनन और प्रदावण की विधि की जानकारी है । भारत मे वैदिक काल से ही लोहे का प्रादुर्भाव पाया जाता है । ई० पू० ४८३ में गौतम बुद्ध के देहावसान के लगभग हेरोडोप्स और कटेसियम का जन्म हो गया था जिन्होने भारत मे लोहे का अविवाध वर्णन किया है । हेरोडोप्स द्वारा वर्णित लोहे के तीर जो एक्सरसस की सेना के भारतीय सैनिको के हाथ मे थे—सभवत भारत मे ही बने होगे । इस्पात की बनी तलवारो का भी उल्लख आता है जिससे प्रकट है कि अच्छे लोहे और इस्पात की ख्याति उस समय तक भारत मे पूर्णरूपेण हो चुकी थी । ई० पू० ४५० तक भारत के सभी सभ्य नगर केन्द्रो मे लोहे का प्रयोग होता था । धातुओ के टुकडो को जमा करके अपनी भट्ठी मे गलाते थे—लोहारो के ये सचय धातु सबधी जानकारी के महत्त्वपूर्ण है । इनके बिना हमे अतीत के धातु कार्यों के विषय मे बहुत ही कम जानकारी हो पाती ।

सिंधु नदी के पूर्व एक लोहे की वस्तु मिली है जिसका काल इसके भी पूर्व हो सकता है ।

प्राचीन भारत मे लोहा एक विशेष विधि से तैयार किया जाता था जो इसे जग लगने से रोकता था । इस विधि के विषय मे जानकारी नहीं है, किन्तु दिल्ली की कुतुब मस्जिद के अहाते मे खडे हुए प्रसिद्ध लौह स्तम्भ जैसे स्मारको से इसके अस्तित्व का ज्ञान होता है । ये स्तम्भ सभी ऋतुओ मे बिना किसी रक्षण-साधन ज्यो के त्यो खडे हैं । इन्हे मथुरा के निकट से लाया गया था— जहा यह गोल-गोल लोहों को जोडकर बनाया गया बताते हैं जो विश्लेषण करने पर विशुद्ध सिद्ध हुए हैं । इन लौह स्तम्भो का निरीक्षण और परीक्षण भी हो चुका है—चार दिनो तक एक स्तम्भ का प्रयोगशाला के वातावरण मे छोड दिया गया और कुछ भी परिवर्तन नही हुआ ।

प्रसिद्ध मूषा इस्पात जिसे तेलुगु मे वोत्ज कहते हैं—वह मिट्टी मूषा मे सगलन पद्धति स इस्पात बनाने की विधि का मूल स्थान भी भारत ही था । *अवश्य ही इसमें कोई गुण वर्तमान होगा जिससे पेराज का इस्पात इतना अधिक लोकप्रिय बन सका और कटेसियन द्वारा वर्णित तलवारें हमारी प्रशसा की पात्र* बनी । दक्षिण भारत से खोदकर निकाली गई लौह वस्तुए जो मूषा इस्पात की थीं । ऐसा अनुमान है ये तलवारें कटेसियन ने आर्आकजेर्क्जसनेमन के दरबार मे देखी थीं । अत. यह सभव प्रतीत होता है कि भारतीय लोहारो ने वोत्ज विधि का

आविष्कार ई० पू० पाचवी सदी के प्रारम्भ मे ही कर लिया था।

इस प्रकार भारत भूमि मे खनिज लोहे के तत्वो और इससे धातु निकालने की विधि का ज्ञान हो गया—तभी हथियार और विस्तृत कच्ची धातु के उद्गम-स्थलो का भी ज्ञान प्राप्त हो गया। ताम्रकारो द्वारा सचित ज्ञान का प्रयोग इस नयी धातु के लिए किया गया होगा और लोहे की जिन वस्तुओ का अभी अस्तित्व है उनकी प्रामाणिकता सिद्ध करने के लिए अधिक लबे काल को मानने की आवश्यकता नही पड़ेगी। इन पुरातात्विक मिश्रित तत्वो की खोज सबधी काल-निर्धारण का कार्य इतिहासवेत्ताओ का है।

मुख्यत तक्षशिला से प्राप्त अवशेषो की जाच करने पर पता चलता है कि उत्तरी भारत के लोहे के औजारो और हथियारो का ढाचा दक्षिण के औजारो और हथियारो से भिन्न था। दक्षिण के औजारो व हथियारो मे कुर्ग, कोयबटूर और ब्रह्मगिरि से प्राप्त लबे छड वाले लोहे के भाले, लोहे के छड के त्रिशूल, लोहे के छल्ले वाले बधन लगे फावड़े, साकेट के रूप मे मुडे हुए किनारे वाले फावडे, लग्गी, तस्तरी, खूटी से टगे लैंप और लोहे की तिपाइया हैं। इनके अतिरिक्त तलवारें छुरे, हसिये, सॉकेट लगे भालाग्र तीर शीर्ष और चपटी कुल्हाडिया भी हैं।

भारत मे टीन उत्पन्न किया जाने का कुछ प्रमाण नहीं है अत यह अनुमान किया जाता है कि बाह्य व्यापार के द्वारा टीन भारत मे लाया गया होगा जिसका बहुत अधिक प्रयोग नीलगिरि और अदिचनालूर की कब्रो से प्राप्त ताबे की मूर्ति और घडो म होता था।

भारतीय एव ईरानी सीमाक्षेत्र के अन्दर, जहा यत्र-तत्र पाये गये हस्तनिर्मित बर्तनो के आधार पर विदित होता है कि प्राचीन नव पाषाणी सस्कृति पहले से ही वर्तमान थी, चाक पर बने तथा अच्छी चित्रकारी किये बर्तनो का आगमन हुआ। इनके पीछे मिट्टी के बर्तन निर्माण तथा चित्रकारी की लबी परम्परा वर्तमान है जिसके फलस्वरूप उच्च कोटि की वस्तुए बनने लगी थी। पुरातत्व सम्बन्धी शोध एव अध्ययन करने पर कोई भी ऐसी सस्कृति नही मिलेगी जिसके अदर उस तरह के चित्रित बर्तन पाए गए हो जैसा कि भारत की भूमि मे प्राप्त हुए हैं अथवा जो सस्कृति पैत्रिक आद्य स्वरूप होने का दावा करती हो।

धातु विज्ञान—कुल्ली सस्कृति के अन्तर्गत धातु विज्ञान का प्रचुर विकास हुआ—यह उन ठठेरो ने प्रारम्भ किया जिन्होंने यह कला सिंधु नगरो मे सम्भवत मोहनजोदडो मे सीखी थी। चटाईदार नमूने वाली टोकरियो के पाय जाने से उनके बुनने की कला का ज्ञान प्राप्त होता है—वे कपडे बुनना भी जानते थे, इसके प्रमाणस्वरूप एक हड्डी की सुई और दूसरे औरत का चित्र अकित किया हुआ

एक टोगाओ बर्तन मिले।

कला की दृष्टि से इन लोगो की सबसे बडी कृतिया चित्रकारी वाले बर्तन लोगुलाई II तथा कुल्ली के साडो के चित्र वाले बर्तनो तथा नाल कब्रिस्तानो ‹ बहुरगे बर्तनो के रूप मे प्राप्त हुई है। सिंधु नदी तथा इसकी शाखाओ के क्षेत्र ‹ हडप्पा सस्कृति के नाम को एक सभ्यता फैली थी।

सिंधु घाटी की सभ्यता के मुख्य तत्त्व हैं—हडप्पा निवासियो की प्रमुख विशेषता नगर निर्माण योजना एव पकी हुई ईंटो के भवन-निर्माण। आरम्भ से ही उनके नगर सावधानीपूर्वक बद्ध एव पकी हुई ईंटो से बनाए जाते थे—इनके प्रखड सुनियोजित होते थे और मुख्य सडकें सीधी हुआ करती थी। आज तक मोहनजोदडो की सडको और गलियो मे चलने पर नगर के बारे मे गलत धारणा बनती है। खुदाई की गई गहरी सडको पर चलते हैं तो ऊचे भवनो की कतारें मिलती है। कारखानो की खडित चिमनियो जैसे दिखने वाली चीजें वास्तव मे ईंट के कुए हैं। जैसे-जैसे नदी की मिट्टी की परतें जमती गई, हडप्पा निवासी कुए पर ईंट लगाते गये—अब खुदाई करने वालो ने इसे खोदकर निकाला है।

नगरो की विस्तृत व्यवस्था पूरब मे अपने समय से या आज भी सबसे विशाल एव प्रगतिशील नगरो से बहुत आगे थी। उन लोगो की अपनी लिपि माप-तौल प्रणाली एव मानव धातु कर्म थे। ये सारे तत्त्व जो बर्बरता के विपरीत सभ्यता निर्माण के चिह्न हैं, वहा के मूल निवासी खेतिहर किसानो की अपेक्षा समय से बहुत आगे थे जिससे हडप्पा-निवासियो की रचनात्मक कल्पनाशक्ति का बोध होता है।

दक्षिण भारत की सस्कृति ई० पू० प्रथम शताब्दी तक मुख्यत नवपाषाणिक रही। तत्पश्चात् सपूर्ण दक्षिण भारत मे मध्य प्रदेश मे नागपुर से लेकर कन्या-कुमारी तक नगरो और गावो मे रहने वाले लोगो की सस्कृति ऐसी बन गई जिसमे लोहे का अधिक प्रयोग होने लगा जबकि उसकी विशेषता लाल और काले रग के बर्तनो मे निहित नयी मृतिका-कला थी।

वास्तुकला, मूर्तिकला और चित्रकारी निकट सबधी कलाए हैं—इन कलाओ ने भारत मे उच्चस्तरीय उपलब्धियो के बारे म एक दानिश कलाकार ने लिखा है कि 'भारतीय कला को मुसलमान बादशाहो द्वारा नष्ट-भ्रष्ट किये जाने के बाद जो मध्य 'भारत मे अजन्ता की गुफाओं आदि मे अवशेष रह गये, वे भारतीय कला के उच्च शिखर पर पहुची हुई स्थिति के प्रतीक हैं।'

५
मनोविज्ञान

मनुष्य की अपनी मानसिक स्थिति के द्वारा ही प्रत्येक विचार उत्पन्न होता है। अत प्रत्येक दर्शन, धर्म और विज्ञान सबसे पहले मन मे आने वाले ज्ञान को ग्रहण करने के लिए प्रवृत्त होता है और उन अनुभवों मे जो दु ख का अनुभव होता है उनकी निवृत्ति के लिए या तो साधन ढूढता है अथवा मन के बन्धनो से छूटकर मन से परे जाना चाहता है। वैज्ञानिक और सास्कृतिक प्रवृत्ति वाले सामान्य जन दु ख के अनुभव को हटाने के लिए प्रयत्नशील रहते हैं और आध्यात्मिक प्रवृत्ति वाले साधक दु ख के अनुभवों से छूटकर मन के अन्दर ही रहना चाहते हैं। योगी, नैयायिक और बौद्ध आदि मन के अतीत म जाकर सुख और दुख दोनो के अनुभव करने वाले मन से छूट जाना चाहते है।

इस प्रकार साधन-भेद होने पर भी वास्तव म मन ही इन सबका केन्द्र है। इसलिए सासारिक जीवन मे दु ख से निवृत्ति और सुख की प्राप्ति के लिए मन की स्थिति को समझकर उसके निग्रह द्वारा सामजस्य लाने के लिए समुचित व्यवहार करते हुए कर्तव्य कर्म की ओर अग्रसर होना भारतीय मनोविज्ञान की पद्धति रही है। महर्षि पातजलि का अष्टाग योग इस मनोवैज्ञानिक पद्धति का ज्वलन्त उदाहरण है । सन्त विनोबा भावे ने योग को जीवन की कला कहा है—श्रीमद्भगवद् गीता—'योग कर्मसु कौशलम्' का भी यही अभिप्राय है। फिर एक स्थान पर 'योग चित्त वृत्ति निरोध' आया है। इस सबका तात्पर्य यही है कि आन्तरिक शक्ति पर सयम करके बाह्य व्यवहार-कौशल को सयत करे—अर्थात् अन्तर और बाह्य दोनो मे योग स्थापित करने के क्षेत्र मे अवतीर्ण होना ही भारतीय मनोविज्ञान का सिद्धान्त है। आत्मानुशासन भारतीय दर्शन और अध्यात्म का मूलाधार है। आत्मसयम और अहिंसा के बिना विज्ञान और तक्नीकी गरीब-अमीर के बीच भयानक दीवार को और अधिक चौडी करेंगे—जिससे तनाव, अविश्वास और भय को बढ़ावा मिलेगा, इस दरार को पाटना असम्भव हो जायगा और वह हम सर्वनाश तक पहुचा देगा। श्रीमद्भगवद् गीता मे बाहरी ससार की सत्ता और अन्तर्मन की सत्ता दोनो को एक जैसा सत्य माना है एव

शुद्ध चैतन्य को इन दोनो सत्ताओ से परे स्वीकार किया है, जिसे योगी अरविन्द ने अतिमानस सज्ञा देकर अधिमानस से अतिमानस की ओर जाना ही मानव का अन्तिम विकासक्रम माना है। वासुदेव कृष्ण बाहरी जगत् के महान नेता थे और अन्तर्जगत् के महान व्यवस्थापक। इसलिए उनके मानस-शास्त्र मे बाह्य एव अभ्यन्तर का अद्भुत समन्वय हुआ है। वस्तुत वैदिक सस्कृति की मानस दृष्टि व्यवहार और परमार्थ दोनो को मिलाकर चली है। गीता मे इस दृष्टि को अक्षुण्ण रखा गया है अत गीता का मानस विवेक एक सम्पूर्ण प्रक्रिया है।'[1]

आधुनिक युग के महर्षि परम चिन्तक अरविन्द ने कहा है कि 'बाहरी वातावरण हमारी अन्तर्स्थिति के विकास मे महत्त्वपूर्ण योग देता है—बाहरी जगत् की सामग्री को ग्रहण करने के लिए हमारी आन्तरिक चेतना जागृत होकर प्रेरणा पाती है। बाहर के ससार से नाता तोडकर मनुष्य अपनी ईश्वर-प्रदत्त शक्तियो का विकास नही कर सकता।'[2]

भारतीय दर्शन का मूलाधार मनोविज्ञान रहा है। क्रान्तदर्शी महर्षियो ने मानव-मन की प्रवृत्तियो का अध्ययन करके उसे वश मे करने के प्रयोग किये और जो परिणाम निकले वे योग साधना और मनोनिग्रह आदि नामो से अभिहित हुए। पातजलि योग दर्शन की इमारत मनोविज्ञान पर ही आधारित है। उनके योग की आठ भूमिकाए—आसन, प्राणायाम, प्रत्याहार यम, नियम, धारणा, ध्यान, समाधि—मन को वश मे करने वाछित लक्ष्य पर ले जाने के ही साधन हैं। जिस प्रकार वेदान्त और अध्यात्म के क्षेत्र मे परम सत्ता ब्रह्म से योग स्थापित करने का लक्ष्य बनाकर उपर्युक्त आठ उपायो से चित्त की एकान्तता प्राप्त की जाती है उसी प्रकार सासारिक जीवन मे सभी कामो के लिए चित्त की एकाग्रता आवश्यक है। प्रत्येक मनुष्य अपने निर्धारित लक्ष्य की ओर मनोनिग्रह के द्वारा अग्रसर होकर चित्त स्थिर कर सकता है। हमारे ऋषियो ने मन की करामातो को भली प्रकार समझ लिया था। भारतीय मस्तिष्क की प्रवृत्ति सदा से सत्य की प्राप्ति का ऊचे से ऊचा लक्ष्य सामने रखकर तप-साधना से उसकी ओर अग्रसर होना रही है। मन को साधने के लिए कठोर प्रयत्न और साधना करनी होती है। प्रारम्भ मे मन उस सत्य की ओर जाने का विरोध करता है, उसे अनेक विधियों से स्थिर करना पडता है। गीता मे भी अर्जुन ने कहा है—

'चचल हि मनो कृष्ण प्रमाथि बलवद्दृढम्।
तस्याह निग्रह मन्य वायोरिव सुदुष्करम्॥

---

१ गीता प्रवेश—स्वामी महेशानन्द गिरि।

२. Foundations of Indian Culture, p 390।

अर्थात् —

मन बडा चचल है। इसको वश मे करना हवा को बाधने के समान दुष्कर है। परन्तु भगवान कहते हैं कि मन चचल अवश्य है किन्तु अभ्यास और वैराग्य से इसे वश मे किया जा सकता है—

'असशय महाबाहो मनो दुर्निग्रह चलम्।
अभ्यासेन तु कौन्तेय वैराग्येण च गृह्यते ॥६-३५॥

आगे कहते हैं कि अपने ऊपर सयम रख बिना योग साधना दुर्लभ है और सयमशीलता से यत्नपूर्वक उपाय करता हुआ मनुष्य योग मे अर्थात् मन को वश मे करने मे सफल हो सकता है।

भारतीय मनीषियो ने इस पद्धति को अपनाया और सब प्रकार से मनोनिग्रह करके अन्तर्मन और बाह्य ससार के सत्य मे सामजस्य और सतुलन स्थापित किया। पाश्चात्य आलोचक भारतवर्ष की मनीषा की इस प्रवृत्ति को किसी भी दृष्टि से देखें, वे इसे ससार के प्रति उपेक्षा और त्याग की भावना मानते है, परन्तु वास्तव मे भारतीय दर्शन और अध्यात्म मे जीवन की कभी उपेक्षा नही की गयी, बल्कि जीवन मे परम लक्ष्य की प्राप्ति के लिए मनोनिग्रह द्वारा वृत्तियो को साध कर जीवनयापन करने का प्रयत्न सदा से रहा है। यही यहा का मनोविज्ञान है, जिसके आधार पर मानव जीवन सुख और शाति की ओर अग्रसर होता हुआ अपने सारे लक्ष्यो मे सफलता प्राप्त कर सकता है।

आधुनिक जीवन की प्रवृत्ति बहिर्मुखी होने के कारण अन्तर्मन की वृत्तियो पर नियन्त्रण रखे बिना बाहरी ससार मे विचरण करके मनुष्य सुख प्राप्त करना चाहता है। भारतीय मनोविज्ञान की दृष्टि से यह उचित नहीं। मनुष्य का बाहरी जीवन और अन्तर्मन दोनो ही उसकी सत्ता मे है। अपनी शारीरिक और मानसिक शक्ति के आधार पर ही वह आत्मज्ञान मे विकसित होता हुआ बाहरी ससार मे सुख प्राप्त करने के लक्ष्य मे सफल हो सकता है।

बाहरी ससार इन्द्रियो के द्वारा मानसिक जगत् मे प्रविष्ट होता है और चित्त भी सस्कार, वासना आदि के द्वारा वही पहुच जाता है तब अहकार इन दोनो को मिलाकर कर्म या ज्ञान का निश्चय करता है। इसमे बाह्य जगत् के अश और सस्कार तथा वासनाओ के अंश हमारी परतन्त्रता है। और अहकार तथा बुद्धि मे हमारी स्वतन्त्रता का उन्मेष है। मनुष्य की प्रत्यक अनुभूति मे स्वतन्त्र और परतन्त्र उन्मेष मिला हुआ होता है।

इस आशय का गीता का निम्नलिखित श्लोक विश्व के साहित्य मे सर्वश्रेष्ठ मनोवैज्ञानिक विश्लेषण करने वाला माना गया है—

ध्यायतो विषयान्पुस सगस्तेषूपजायते ।
सगात्सजायते काम कामात्क्रोधोऽभिजायते ।
क्रोधाद्भवति सम्मोह सम्मोहात्स्मृतिविभ्रम
स्मृति भ्रशाद् बुद्धिनाशो बुद्धिनाशात् प्रणश्यति ।।'

(गीता, २—६२-६३)

अर्थात् विषयो का चिन्तन करते-करते उनमे आसक्ति हो जाती है, आसक्ति से कामना की उत्पत्ति होती है—कामना पूर्ण न होने पर क्रोध उत्पन्न होता है और क्रोध से सम्मोहन (प्रमाद), सम्मोहन से स्मृति विक्षिप्त हो जाती है और स्मृति नष्ट होने से बुद्धि नष्ट होती है बुद्धि के नाश से मनुष्य विनाश को प्राप्त हो जाता है ।

मनश्चिन्तन से काम, क्रोध आदि मानसिक विकारो की उत्पत्ति प्रक्रिया का विश्लेषण भगवान कृष्ण जैसे मनोविज्ञानशास्त्री ही कर सकते है, मन नियत्रण के अभाव म मनुष्य स्वय आत्मनाश का कारण बन जाता है ।

बाहरी ससार को मन के अनुकूल बनाने के लिए हमे कर्मों के उद्देश्य को एक करना है एव उद्देश्य के अनुकूल कर्म करना गीता के मानसशास्त्र का प्रथम सोपान है । कर्मों का परिवर्तन अन्तर्जगत् पर अधिकार करके ही सभव हो सकता है । अन्तर्जगत् के सस्कारो का उद्भव वातावरण के अनुसार होता है । इसलिए मन को वाछित लक्ष्य पर लाने के लिए समुचित वातावरण की उद्भावना भी आवश्यक है ।

मन को वश मे करने के लिए जो अभ्यास और वैराग्य का उल्लेख गीता मे हुआ है उसकी प्रक्रिया भी मनोवैज्ञानिक आधार पर बताई गई है कि जिन वस्तुओं से हम बचना चाहते हैं उन वस्तुओ को मन के सामने उपस्थित करके विवेकपूर्वक उसमे दोषदृष्टि रखने से धीरे-धीरे मनुष्य उसके बधन से छूट जाता है । जितना ही पदार्थ समीप होगा उतना ही उसके विषय मे अधिकाधिक राग की दृष्टि बनेगी । इसी प्रकार द्वेष के प्रति भी यही नियम लागू होता है । अनिष्ट पदार्थ का जितना ही सग अधिक होगा उतना ही उसके प्रति द्वेष बढेगा और अनिष्ट पदार्थ दूर रहने पर उसके प्रति द्वेष कम होता जाता है । राग और द्वेष की तीव्रता होने पर मन विवेकपूर्ण हो जाता है और उस अवस्था मे मनुष्य अपना नियत्रण खोकर पूरी तरह से चित्त और बाहरी पदार्थों के वश मे हो जाता है । ऐसी दशा मे न तो भूतकाल के विचार मनुष्य को अपने ऊपर अधिकार रखने देते हैं और न भविष्य के जिससे भारी से भारी अनिष्ट होने की सम्भावना रहती है। मन की स्वतत्रता का जितना अभाव होता है अर्थात् मन के ऊपर नियत्रण रखने मे मनुष्य जितना असफल होता है, उतना ही लक्ष्य से विचलित हुए नाश

स्वतन्त्रता के अभाव को आत्मनाश माना है। जितना ही मनुष्य मन पर विजय प्राप्त करके अपनी स्वतन्त्रता को बढाता है, उतना ही उन्नत माना जाता है। इसके विपरीत मनोविजय के अभाव मे स्वतन्त्र शक्ति का ह्रास उसे परिस्थितियों का दास बना देती है।[1] मन को किसी महान् उद्देश्य म प्रवृत्त करना उसे उन परिस्थितियो से हटा देता है। योग के प्रभाव से इन्द्रियो मे सूक्ष्मता आ जाती है। उस सूक्ष्मता से दुखमय परिस्थितियो के अन्दर जो सूक्ष्म सुख के स्पन्दन होत हैं, उनको भी वह गृहण कर सकता है और अत्यन्त सुख के वातावरण मे जो दुख के सूक्ष्म स्पन्दन होते हैं वे भी उससे छिपकर नही रहत। परिणाम यह होता है कि सुख के क्षणो मे दुख के अनुभव से उसका वैराग्य और दृढ हो जाता है तथा सुख उसके चित्त को अस्थिर नहीं कर पाता। दुख मे सुख के स्पन्दन उसको दुख से विचलित होने से बचा लेत हैं। इस प्रकार मनोवैज्ञानिक दृष्टि से योग साधकर सुख और दुख की परिस्थितियो मे मन का सतुलन रखा जा सकता है। गीता मे भगवान कृष्ण ने स्थितप्रज्ञ के लक्षण बताते हुए कहा है—

"विषया विनिवर्तन्ते निराहारस्य देहिन.।
रसवर्जं रसोप्यस्य हर दृष्ट्वा निवर्तते ॥ (गीता, २—५६)

यह एक मनोवैज्ञानिक तथ्य है कि इन्द्रियो को विषयो से रोकने से भी उनमे रस रहता है, परन्तु विषयो के रस स भी अधिक रस वाल पदार्थ स मन को जोड दिया जाय ता इन्द्रिया आप ही शान्त हो जायेंगी जैसे ऊचे शब्द म धीमा शब्द लुप्त हो जाता है, सूर्य के प्रकाश म दीपक का प्रकाश लुप्त हो जाता है। यह आधुनिक मनोविज्ञान के भी अनुरूप है कि इन्द्रियो का वेग प्रबल होता है, विषय-कामना को दबाने से अवचेतना म बेचैनी उत्पन्न होती है जो विषय भोगने स ही दूर होती है, परन्तु मन को दूसरी ओर अधिक आकर्षक पदार्थ म लगान (divert) करने स वह स्वत दब जायेगी।

ऊचे रस म डूबने से न कुठा होगी, न मनोविकार उत्पन्न होगा, पर ब्रह्म के रस को रसोवैस' कहा गया है। अतः परब्रह्म के रस मे मन को एक करने से विषयो का रस स्वत ही लुप्त हो जायेगा, नही सुहायेगा। अन्तर्मन पर विजय प्राप्त करने के लिए भारतीय मनोविज्ञान म सयम अर्थात् धारणा, ध्यान और समाधि नाम से कही हुई चितन की तीन अवस्थाए श्रेष्ठ साधन बताये हैं, जिसका तात्पर्य है कि मनोवैज्ञानिक दृष्टि से किसी भी विचार को यदि हम बार-बार दुहराते हैं तो धीरे-धीरे वह हमारे जीवन का दृढ अग बन जाता है। आत्मादेश (auto-suggestion) जीवन-निधि के क्रम मे सबसे पहला साधन है। जितने विचारों को हम महत्त्व देते हैं उनके द्वारा किसी चीज को सुनने से हम

---

१. गीता प्रवेश (पृ० ११)—स्वामी महेशानन्द गिरि।

उन बातो के प्रति स्वाभाविक निष्ठा हो जाती है। इन दो तत्त्वो का आविष्कार आधुनिक पाश्चात्य मनोविज्ञान पिछले चालीस वर्षों म ही कर पाया है जबकि भारतीय वैज्ञानिको ने इस मनोवैज्ञानिक तथ्य को बहुत पहल जान लिया था जिसके आधार पर ध्यान, धारणा समाधि आदि साधना पद्धति बनायी गयी और गीता म मानस निर्माण के लिए इसका प्रतिपादन हुआ है।

सवथा विरुद्ध सामाजिक वातावरण मे बैठकर मानसिक चिन्तन के आधार पर एक्य भाव को प्राप्त करना सभव नही है। इसलिए बौद्ध जैन या वैष्णव और सत मत की तरह ससार क प्रति उपेक्षा का भाव साधक के लिए श्रेयस्कर नही। सामाजिक परिस्थिति का निर्माण हम एक ऐसा वातावरण उत्पन्न करन म सहायता देना है जिसम अन्तर्जगत् का विकास सभव है। इसलिए अन्तर्मन की साधना बाहरी जगत् की तरफ सचेतन मुख से सलग्न रहना लक्ष्य-प्राप्ति के लिए वाछनीय है। जैसा कि गीता म भगवान कृष्ण ने अजुन को बारम्बार यह आदश दिया है कि सारे कर्मों का विवेक बुद्धि से सचालन करके, आशा और ममता को छोडकर चिन्ता और सताप से रहित बनकर तू युद्ध म लग जा। इससे स्पष्ट है कि गीताकार मनोवैज्ञानिक दृष्टि से मनुष्य का न केवल अन्तर्जगत् म क्रिया करना आवश्यक समझते हैं बल्कि बाहरी दृष्टि स भी कम म लगना उतना ही आवश्यक मानते है।

जैन इत्यादि कुछ भारतीय धर्मों म मन क प्रति कठोर भावना को अपनाया जाता रहा है। सनातन धर्म मे भी दीर्घकाल तक बडे-बडे उपवास चान्द्रायण व्रत आदि के द्वारा कठोर कष्ट सहने की प्रवृत्ति रही है परन्तु इस प्रकार की कठोर साधनाए भारतीय मनोविज्ञान के अनुसार नही हैं। कठोर व्रत न केवल मन के भीतर ग्रन्थियो का निर्माण करत हैं बल्कि इनके द्वारा मन अधिक बधन म फस जाता है और इस प्रकार की प्रवृत्ति समाज म पाखण्डवाद और दम्भ का रूप धारण करके प्रवृत्त होती है। भारतवर्ष मे वैदिक दृष्टि का ह्रास होने के बाद से जो तरह तरह के तीव्र व्रत आदि घोर रूपों का प्रचार बढ गया, यह वस्तुत भारतीय मनोविज्ञान के विरुद्ध है और हमारी सस्कृति को मान्य नही है। मन के प्रति अत्यधिक कठोरता से मन मे तनाव उत्पन्न होता है। यदि अन्तर्मन और बाहरी जगत् के कार्यों मे सघर्ष रहा ता जीव (मानव) हमेशा के लिए दुखी बना रहगा। इसलिए भारतीय दृष्टि म मानस के अनुसार ही बाह्य जगत् के कर्मों मे प्रवृत्ति करा कर दूसरे कर्मों म निवृत्ति के ऊपर बल दिया है। अपनी मनोवृत्ति के अनुसार स्वतन्त्रतापूर्वक कम न करने वाला अनत दुखी व अशान्त हो जाता है, जो समाज म भी दुख और अशान्ति की वृद्धि करने वाला होगा।

नीति और धर्म की दृष्टि से इच्छा मनोविज्ञान का अधिक विकास हुआ, क्योकि भारतीय दशन के प्रत्येक चिन्तन म नीति और धर्म का ही प्रमुख स्वर रहा

है। ये प्रमुख वृत्तियों के अन्तर्गत आती हैं। अतः रोगो का इलाज भी मनोवैज्ञानिक पद्धति से करने के उपाय बीज रूप मे वेदो मे मिलते है, जिसने आज भारत मे और विश्व भर मे एक अलग विज्ञान का रूप धारण कर लिया है।

भारतीय दर्शन के कर्मफल और पुनर्जन्म का सिद्धान्त भी नितान्त मनोविज्ञान पर आधारित है। जीवन भर के जो भावना, विचार और कर्मों के सस्कार मन पर होत है, मृत्यु के समय स्थूल शरीर के नष्ट होने पर सूक्ष्म शरीर के साथ वे सस्कार आगामी जन्मो मे जाते हैं, तदनुसार ही शुभ-अशुभ सस्कारो के फलस्वरूप जीव भावी जन्म ग्रहण करता है और उन्ही के अनुसार उसे आगे सुख-दु.खपूर्ण वातावरण उपलब्ध होता है। पाश्चात्य मनोविज्ञान ने इस तथ्य को बहुत पीछे पहचाना है—भारतीय सस्कृति के इस मनोवैज्ञानिक तथ्य को लेकर आज विश्व भर मे कर्मफल और पुनर्जन्म सिद्धान्त पर अनुसधान और प्रयोग किय जा रहे हैं। अमरीका के डॉ॰ प्रेट और डॉ॰ स्टिवेन्सन इस परा-मनोविज्ञान को (Para Psychology) वैज्ञानिक आधार दे रह हैं, जो भारत के पुनर्जन्म की विचारधारा पर आधारित है।

भारतीय मनोविज्ञान ने मस्तिष्क को ज्ञान के अन्वेषण का माध्यम माना है। मस्तिष्क मनुष्य की सर्वोच्च शक्ति और मानवीय विकारा का सबसे बडा प्रत्यवाय है। आधुनिक विद्वान भी मन की इस सर्वोपरि महत्ता को समझकर यह स्वीकार करते हैं कि मन आत्मा की एक क्रिया मात्र नही है, किन्तु एम्पीरिकल सैल्फ (Empirical self) मन ही है। आधुनिक दर्शनशास्त्री डॉ॰ राजू ने लिखा है कि फ्रायड (Freud), जुग (Jug) और एडलेर(Adle)की खोजो के फलस्वरूप मान लिया गया है कि अवचेतन मन मे होने वाली समस्त क्रियाए मानव आत्मा के चेतन अश को प्रभावित करती हैं।[1]

परन्तु इतना होने पर भी उनका मनोविज्ञान अधिकतर बाहरी ससार के सत्यवाद से प्रभावित होने के कारण मनुष्य के अन्तर्मन के अनुभवो के साथ सम्बन्ध स्थापित करने मे समर्थ नही हो पाया है। जब तक मनोविज्ञान का विद्वान अन्तर्मन और बाह्य जगत् के बीच सामजस्य स्थापित करने मे समर्थ न हो तब तक उनकी खोज सफल नही मानी जा सकती। जिस प्रकार बुद्ध का मानसशास्त्र बाहरी जगत् के व्यवहार से समन्वय न रखने के कारण एकागी माना जाता है, उसी प्रकार अन्तर्जगत् को स्वतः सिद्ध न मानने के कारण उसकी व्यवस्था बनाने मे प्रयत्नशील न होने वाला पाश्चात्य मानसशास्त्र भी एकागी ही माना जाना चाहिए।

आन्तरिक शक्ति ही हमारे कार्यों को अधिकाधिक सफल बनाती है और

१. Cultural Heritage of India, Vol III, p. 681.

यह शक्ति मन से उत्पन्न होती है। जो काम मन को प्रिय होता है उसे करने के लिए मनुष्य अत्यन्त उत्साहपूर्वक जुट जाता है, और मन को प्रिय लगने योग्य बनाने का उपाय विचारणा है, विचारपूर्वक विवेक बुद्धि से मन को यह निश्चय करा दें कि जो कार्य श्रेयस है वही करना वांछनीय है, केवल प्रेय यानी क्षणिक इंद्रियों को सुख पहुंचाने वाला मात्र ध्येय नहीं हो सकता। इसीलिए भारतीय साधना की सात भूमिकाओं में विचारणा का महत्त्वपूर्ण स्थान है।

मन इन्द्रियों का स्वामी है, अधिष्ठाता है। मन की स्फुरणा से इंद्रियां अपने-अपने विषयों को ग्रहण करती हैं। इसलिए विचारणा से, विवेकपूर्ण बुद्धि से मन के नियंत्रण द्वारा ही इन्द्रिय-संयम सम्भव है।

बुद्धि के द्वारा मन का नियंत्रण अथवा इन्द्रियों के द्वारा मन का नियंत्रण दोनों ही अनुभवसिद्ध हैं, बुद्धि में समता लाने से मन के ऊपर समता के संस्कारों का प्रादुर्भाव स्वतः होने लगेगा। केवल इन्द्रियों का नियंत्रण मनुष्य को पाखंड की ओर ले जाता है एवं केवल बुद्धि का नियंत्रण मन को बार-बार इंद्रियों की ओर फिसला देता है। जिस प्रकार मोटर पर नियंत्रण रखने के लिए ब्रेक और गियर दोनों पर काबू करना होता है, उसी प्रकार मन को काबू में करने के लिए अर्थात् वांछित लक्ष्य पर स्थिर करने के लिए बुद्धि और इन्द्रिय दोनों का समुचित नियंत्रण आवश्यक है।

बाहरी जगत् के प्रति जागरुक रहते हुए भी अपने ऊपर विश्लेषणात्मक दृष्टि रखकर अपने पूर्वजों के अनुभव से चित्त को अनुशासित करना और मन में संस्कारों को बनाना एक प्रधान मनोवैज्ञानिक हथियार है। इसके लिए शरीर इन्द्रिय,मन आदि की तैयारी के विभिन्न सोपान हमारी योग साधना में प्रतिपादित किये गये हैं। पाश्चात्य मानस विज्ञान एक ऐसे दलदल में फंस गया है जहां से वह भावात्मक रूप में किसी के मानसिक रोगों को दूर करने में समर्थ नहीं हो पा रहा है। यदि भारतीय मनोविज्ञान की दृष्टि से उसे अनुस्यूत किया जाये तो अतिमानस के निर्माण में यह विज्ञान एक प्रबल हथियार सिद्ध हो सकता है।

भारतीय प्राचीन मनोविज्ञान के इस सूत्र को लेकर ही यूनानी विद्वानों ने चिन्तन द्वारा प्रयोग आरम्भ किये और धीरे-धीरे शरीर से भिन्न अन्तः क्रियाशील परन्तु अलग रह सकने में समर्थ व्यक्तिगत आत्मा की धारा बनी। आत्मा की व्यावहारिक उपयोगिता का महत्त्व बढ़ा और चिन्तन करते-करते आत्मा विश्व के एकमात्र आधार रूप तत्त्वों में से एक प्रतिपादित हो गई। इस प्रकार मानव आत्मा के रहस्यों का उद्घाटन, उसके विचार व्यवहार को समझने का प्रयत्न और आत्मा एवं शरीर की समस्या को सुलझाने का प्रयास दर्शन का एक अंग हो गया।

वस्तुतः दर्शन और मनोविज्ञान विरोधी नहीं, एक-दूसरे पर आधारित शास्त्र हैं। दर्शन जीवन का सिद्धान्त सत्य सूत्र बताता है और मनोविज्ञान मानवीय

व्यवहार के यथार्थ पर प्रकाश डालता है। मानसशास्त्रियो ने दोनो ही शास्त्रो का अध्ययन और अनुसधान करके यह तथ्य निकाला है कि दर्शन के फार्मूलो का आधार मनोविज्ञान है और मानव व्यवहार का आधार दर्शन के सिद्धान्तो पर आधारित होना चाहिए तब मानव जीवन मे सुख की सर्जना हो सकती है। फ्रायड ने मनोवैज्ञानिक दृष्टि से स्वाभाविक वासना-पूर्ति हेतु जो तीन सिद्धान्त—सप्रेशन, रिप्रेशन और सब्लिमेशन[1] बताए, वे भारतीय मनोविज्ञान मे पहले से ही चार आश्रमो मे विद्यमान थे। ब्रह्मचर्य आश्रम जीवन भोग की तैयारी विवेकशीलता उत्पन्न करके गृहस्थ आश्रम से समुचित रूप मे भोग हेतु विवाह सस्था बनी और फिर वानप्रस्थ मे योग अर्थात् सन्यास की तैयारी समाजसेवा द्वारा साधना करके चतुर्थ आश्रम मे वासनाओ को सब्लिमेट करने मे हम समर्थ होते हैं, अन्यथा वृद्धावस्था तक अनेक प्रकार की एषणाए, वासनाए सताती रहती है।

फ्रायड ने कहा था कि इन सिद्धान्तो को सामाजिक मर्यादा के अनुसार जीवन मे घटित करो, परन्तु पाश्चात्य मनोविज्ञान ने उसे अर्थ रूप मे मानकर वासनापूर्ति को जीवन-भोग का आवश्यक अग बना लिया, वह केवल भौतिक जगत् को लेकर इच्छापूर्ति मे बह गया। इस कारण सफल नही हुआ। मानव मन की सामान्य स्थिति और बाह्य जगत् की परिस्थितियो को दृष्टि मे रखकर सतुलन और सामजस्य स्थापित करना ही मनोविज्ञान माना जा सकता है जो मनुष्य को दु खो की निवृत्ति और सुख की प्राप्ति की ओर अग्रसर करने मे समर्थ हो।

हम देखते हैं कि भारतीय दर्शन मे स्वत सिद्ध आत्मा की अमरता और कर्मफल, पुनर्जन्म आदि मनोवैज्ञानिक सिद्धान्तो के आधार पर ही विश्व भर के मानसशास्त्रियो ने अनुसधान और प्रयोग किये, जिसके फलस्वरूप आज मनोविज्ञान एक विशालकाय के रूप मे अलग ही एक शास्त्र बन गया है। बाल मनोविज्ञान, शिक्षा मनोविज्ञान, समाज मनोविज्ञान, चिकित्सा मनोविज्ञान आदि अनेक शाखाए मनोविज्ञान की हैं। अलग-अलग विद्वान अलग-अलग क्षेत्रो मे अन्वेषण कर-करके इस शास्त्र की गहराई मे पहुचकर मनुष्य को दुखो से छुटकारा दिलाने की चेष्टा कर रहे हैं। विदेशो मे यह विद्या बहुत ही बढ गई है। अस्पतालो मे मनोवैज्ञानिक चिकित्सा के बडे-बडे विभाग हैं। यदि वे मानसिक चिन्तन से उत्पन्न होने वाले रोगो के इलाज मे भारतीय मनोविज्ञान के आधार पर मन और आत्मा के सबध का मेल बिठाने मे समर्थ हो जायें तो इस विद्या से अधिकाधिक मानव-कल्याण करने मे समर्थ हो सकते हैं।

---

1. Suppression, repression and sublimation.

यथार्थ मे मनोवैज्ञानिक पद्धति से रोग निवारण करने के उपाय बीज रूप मे वेदो मे मिलते हैं जिसने भारत मे और विश्वभर मे एक अलग विज्ञान का रूप धारण कर लिया है। अथर्ववेद मे जो आयुर्वेदशास्त्र का विवरण है, उसमे कई मानसिक रोगो का इलाज मनोवैज्ञानिक आधार पर करने के उपाय बताते हुए मानसिक रोगो की मोटे तौर पर दो श्रेणी बताई हैं—'उन्माद' और 'अपस्मार'। अधिकतर रोग मन की वृत्ति से उत्पन्न होते है जो इन दो प्रमुख श्रेणियो के अन्तर्गत आते हैं। इस दिशा मे चिन्तन करने वाले आधुनिक *विद्वान एव वैज्ञानिको ने पाया है कि मानसिक तनाव से शरीर की कैमिस्ट्री,* (Chemistry) रासायनिक प्रक्रिया बदल जाती है, वही विभिन्न रोगो के रूप म प्रकट होती है।

उपर्युक्त विवरण से यह स्पष्ट है कि पाश्चात्य मनोविज्ञान सबधी साहित्य मे जो मानसिक जगत् की समस्याये आज वैज्ञानिक ढग से हल की जा रही हैं उनम से अधिकतर का भारतीय मनोविज्ञान ही मूलाधार था, अर्थात् उसके मूल तत्व *सिद्धान्त रूप मे भारतीय दर्शनशास्त्र मे और यौगिक प्रणाली मे विद्यमान थे—* जो भारतीय सस्कृति की महत्वपूर्ण उपलब्धि मानी जानी चाहिए।

६

ज्योतिष एवं खगोल विद्या

ज्योतिष विद्या भारतीय ऋषियों की विश्व को महान देन है। दूरबीन आदि कृत्रिम साधनों के बिना ही नक्षत्रों की स्थिति से गणना के आधार पर भविष्य में होने वाले परिणामों को जान लेना नक्षत्र विज्ञान का महान् चमत्कार है, जो प्राचीन ऋषियों के योगबल से उनके मानस में स्फुरित हुए और आगे आने वाले मनीषियों ने गहन चिन्तन द्वारा इस विद्या को विकसित किया।

वेदों की छः विद्याओं में से एक है ज्योतिषशास्त्र, जो नक्षत्र विज्ञान का फलादेश है। फलादेश की अलौकिकता सर्वविदित और सर्वमान्य है। ज्योतिष से निकले हुए फलादेश वैज्ञानिक तथ्यों के अनुरूप होते हैं। कई घटनाएं प्रैक्टिकल रूप में घटित हुई हैं जिनसे आधुनिक रंग में रंगे हुए मानस को भी विश्वास करना ही पड़ेगा।

सुविख्यात ज्योतिषवेत्ता सी० वी० रामन ने पाश्चात्य विद्वान पॉल ब्रिटिश को बता दिया था कि अमुक तिथि को तुम्हें भारत छोड़कर जाना ही पड़ेगा और कोई दृश्य आसार न होने पर भी उसे जाना पड़ा।

भूतपूर्व प्रधानमन्त्री प० लालबहादुर शास्त्री को प० हरदेव शास्त्री ने नक्षत्र-गणना से फलित बताया था कि ईराक जाना ठीक नहीं होगा—परन्तु वह नहीं माने, गये और लौटे नहीं।

सौ वर्ष पूर्व का कैलेण्डर भावी घटनाओं के विवरण सहित तैयार करना ज्योतिष विद्या के गणित पक्ष की प्रबलता का द्योतक है। सूर्यग्रहण-चन्द्रग्रहण को वैज्ञानिक मानते हैं—परन्तु विज्ञान के द्वारा पहले से पता नहीं चलता कि कब-कब ग्रहण पड़ने वाला है। ज्योतिष का फलादेश दीर्घकाल पूर्व ही नक्षत्रों की गणना के आधार पर निकाल लेता है कि अमुक वर्ष के किन-किन महीनों में किस समय सूर्य अथवा चन्द्रग्रहण की स्थिति उत्पन्न होने वाली है और तभी होता भी है। बालक के जन्म के समय नक्षत्रों की स्थिति के आधार पर उसके पूरे जीवन-काल को पढ़ लेना ज्योतिष के फलित का चमत्कार है। जन्म-समय के नक्षत्र बालक के स्वच्छ मानस-पटल पर कम्प्यूटर की भांति प्रभाव डालते हैं—उस समय

नक्षत्रो की स्थिति के अनुसार इस विषय के विद्वान गणना करके बालक के भविष्य को आक लेते हैं—इसी आधार पर जैमिनी ऋषि की मनुष्य की उम्र बतान की पद्धति सार्थक सिद्ध हो रही है ।

चन्द्रमास की गणना से वर्ष ३६४ दिन का होता है और सौर मास स ३६५ दिन का । इन दोनो के भेद म सामजस्य बिठान के लिए ज्योतिषशास्त्र मे प्रति चौथे वर्ष एक अधिक मास का विधान कर दिया गया है। इस प्रकार ज्योतिष विद्या भारतीय ऋषियो की गहन सूझ-बूझ एव सूक्ष्म अन्तर्दृष्टि का परिणाम है। भारतीय मनीषा ज्यो-ज्यो इस विषय पर चिन्तन करती रही त्यो-त्यो मानव मस्तिष्क मे ग्रह नक्षत्रो की दिव्य ज्योति के रहस्यो का उद्घाटन होता गया ।

पार्यकाल के अन्त मे ज्योतिष के गणित सिद्धान्त और फलित म दानो भेद स्वतन्त्र रूप मे प्रस्फुटित हुए—ग्रहो की गति स्थिति, अयनाश, पात आदि गणित ज्योतिष के अन्तर्गत तक शुभाशुभ समय का निर्णय, विधायक, यज्ञयागादि कार्यो के करने हेतु समय और स्थान का निर्धारण फलित ज्योतिष का विषय माना जान लगा । तत्पश्चात् पूर्व मध्य काल की अन्तिम शताब्दियो म सिद्धान्त ज्योतिष के रूप मे भी विकास हुआ—किन्तु खगोलीय निरीक्षण और ग्रहवेध की परिपाटी के कम हो जाने से गणित के कल्पनाजाल द्वारा ही ग्रहो के स्थानो का निश्चय करना सिद्धान्त ज्योतिष के अन्तर्गत आ गया । पूर्व मध्यकाल के प्रारम्भ म ज्योतिष का अर्थ स्कन्ध त्रय-सिद्धान्त, सहिता और होरा के रूप मे ग्रहण किया गया । परन्तु इस युग के मध्य म इस परिभाषा न और भी सशोधन देखे और आगे जाकर यह पच रूपात्मक होरा, गणित सहिता प्रश्न और निमित्त रूप हो गई ।

इन सब विद्याओं में भी चिन्तन करने से क्रमिक विकास होता रहा है। आज भारतीय ज्योतिषशास्त्र अति विशाल रूप ग्रहण कर चुका है।

ज्योतिषशास्त्र सहित खगोल विद्या को गुप्तकाल म अति बलपूर्वक विकसित किया गया । सुप्रसिद्ध लेखक आर्यभट्ट ने पाटलिपुत्र म अध्ययन करके ४७६ ई० पू० म यह विद्या सिखाई । सर्वप्रथम ग्रीक के कुर्नतिकस ने जाना कि पृथ्वी गोल है और सूर्य के चारो ओर घूमती है—उनकी खोज के तत्त्वो को भी सम्मिलित करके आर्यभट्ट ने अपने अध्ययन से इस विद्या का विकास किया। उन्होने कई ग्रीक प्राभाषिक शब्दो का प्रयोग किया है । वराहमिहिर न ग्रीक विद्या का गम्भीर अध्ययन किया, फिर गुप्तकाल के अन्तिम पक्ष (५६८ ई० पू०) मे ब्रह्मगुप्त ने इस विज्ञान का विकसित किया। ऐतिहासिक तत्त्ववेत्ताओ को प्रमाण मिले है कि इस समय तक १०, १०० आदि रूपो मे गणना करने की दशमलव पद्धति भी भारतीयो द्वारा खोजी जा चुकी थी। इस प्रद्धति का अनुसन्धान प्रैक्टिकल ज्ञान के क्षेत्र मे भारत की विश्व को बहुत बड़ी देन है, जो आर्यभट्ट के पश्चात् एक शताब्दी तक प्रयोग में नहीं आयी।

इस ज्ञान के प्रथम ऋषि भृगु हुए। अतः यह भृगु संहिता का ज्ञान कहलाता है। भृगु संहिता मे लिखा है कि किस राशि के लोगो पर क्या प्रतिक्रिया होती है।

प्राचीन आविष्कारकर्ताओ ने पुच्छल तारा देखा—

ग्यारहवीं शताब्दी मे मैक्सिको ने एक खिडकी मे से धूप चमकती देखी—२१ जून को सबसे बडी किरण आयी तो उसे सबसे बडा दिन समझा।

भारतीय आचार्यों की विभूति योगविज्ञान ही ज्योतिषशास्त्र का पृष्ठाधार है। यहा के ऋषियो ने योगाभ्यास द्वारा अपनी सूक्ष्म प्रज्ञा से शरीर के भीतर ही सौरमण्डल के दर्शन किये और निरीक्षण करके आकाशीय सौरमण्डल की व्यवस्था की।

यह तो सर्वमान्य सत्य है ही कि अक विद्या जो इस शास्त्र का प्राण है, उसका आरम्भ भारत मे ही हुआ था।

"भारत ने अन्यदेशवासियो को जो अन्य अनेक बातें सिखायी उनमे सर्वाधिक महत्त्व अक विद्या का है—ससार भर मे गणित, ज्योतिष विज्ञान आदि की आज उत्पत्ति पायी जाती है उसका मूल कारण वर्तमान अक क्रम है— जिसमे १ से ९ तक के अक और शून्य—इन १० चिह्नो से अक विद्या का सारा काम चल रहा है। यह क्रम भारतवासियो ने निकाला और उसे सारे ससार ने अपनाया।"[1]

प्राचीन भारत मे ग्रीस देश से अनेक विद्यार्थी विभिन्न शास्त्रों का अध्ययन करने हेतु आते थे—भारतीय आचार्यों से अत्यधिक सम्पर्क के कारण कुछ शब्द ई० पूर्व तीसरी शती मे, कुछ छठी शती मे और कुछ पन्द्रहवी-सोलहवी शती मे ज्योतिष मे मिल गय। भारत के कई ज्योतिर्विद ई० सन् की चौथी व पाचवी शताब्दी मे ग्रीस गये थे, इससे पाचवी शती के अन्त और छठी के प्रारम्भ मे अनेक ग्रीक शब्द भारतीय ज्योतिष मे आ गये।

डब्ल्यू० डब्ल्यू० हन्टर ने लिखा है—'आठवी शती में अरबी विद्वानो ने भारत से ज्योतिष विद्या सीखी और भारतीय ज्योतिष सिद्धान्तो का सिन्द हिन्द नाम से अरबी म अनुवाद किया।'[2]

अरबी की पुस्तकों मे भी उल्लेख है कि 'भारतीय विद्वानो ने अरबी के अन्तर्गत बगदाद की राजसभा मे जाकर ज्योतिष, चिकित्सा आदि शास्त्रो की शिक्षा दी थी। कंके नाम के विद्वान शक सवत् ६९४ मे बादशाह अलमूसर के दरबार मे ज्योतिष और चिकित्सा के ज्ञानदान के निमित्त गये थे।'[3]

---

१. मध्यकालीन भारतीय सस्कृति (ओझा), पृ० १०८।
२ इम्पेरियल गजेटियर इण्डिया—पृ० २१४।
३ ज्योतिष रत्नाकर, प्रथम भाग—भूमिका।

फ्रांसीसी पर्यटक बर्नियर भी भारतीय ज्योतिष ज्ञान की प्रशंसा करते हुए लिखते हैं—

'भारतीय अपनी गणना द्वारा चन्द्र और सूर्य ग्रहण की बिलकुल ठीक भविष्यवाणी करते हैं—इनका ज्योतिष ज्ञान प्राचीन और मौलिक है।'[1] यूनान अथवा ग्रीस से भारत से यह विद्या नही आयी है— जैसा कि पाश्चात्य सभ्यता के पुजारी कुछ लोग बताते हैं।

एन्साइक्लोपीडिया ऑफ ब्रिटेनिका ने लिखा है—

'इसमें सन्देह नही कि हमारे (अंग्रेज) वर्तमान अंकक्रम की उत्पत्ति भारत से है। सम्भवत खगोल संबधी उन सारणियो के साथ जिनको एक भारतीय राजदूत ई० सन् ७७३ में बगदाद में लाया, इन अंको का प्रवेश अरब में हुआ। फिर ई० सन् की नवीं शताब्दी के प्रारम्भ में मोहम्मद उल् खरिज्मी ने अरबी में उक्त क्रम का विवेचन किया। तब से प्रचार बढने लगा। यूरोप में शून्य सहित यह सम्पूर्ण अंक क्रम ई० सन् की बारहवी शताब्दी में अरब से लिया गया और इस क्रम से बना हुआ अंकगणित 'अर्थमटिक' नाम से प्रसिद्ध हुआ।'

लोकमान्य तिलक ने अपनी 'ओरायन' शीर्षक पुस्तक में लिखा है कि 'भारत का नक्षत्र ज्ञान जिसका वेदो में वर्णन आता है ई० सन् से कम से कम पाच हजार वर्ष पहले का है। भारतीय नक्षत्र विद्या में प्रवीण थे।' पाश्चात्य विद्वान प्रो० मैक्समूलर ने स्पष्ट शब्दो में कहा है—'भारतवासी आकाश-मण्डल और नक्षत्रमण्डल आदि के बारे में अन्य देशो के ऋणी नही हैं। मूल आविष्कर्ता वे ही हैं।' अन्य अनेक विद्वानो ने भी ऐसे ही विचार व्यक्त किये हैं, जिससे सिद्ध है कि ज्योतिषशास्त्र का उद्‌भव स्थान भारत ही है। भारत ने किसी देश से सीखकर प्रचार नही किया बल्कि अन्यदेशीय विद्वानो ने भारतीय आचार्यों से सीखा है।'[2]

पूरे ब्रह्माण्ड में १०० मिलियन नक्षत्रो की गलैक्सी है (नक्षत्रो के समूह) जिनमें हमारी पृथ्वी एक है, और मनुष्य इस पृथ्वी का छोटा-सा कण (अणु) मात्र है। हमारी गलैक्सी 'मिल्की वे' कहलाती है।

नक्षत्र २७ भागो में विभाजित है। एक २ नक्षत्र की १२ भागो में बाटने से राशि होती है—राशि को भी बाटने से शनि, सूर्य, राहू आदि ग्रह बनते हैं। इनका प्रभाव ज्योतिष विद्या पर है। इसके ३ भेद हैं—गणित, फलित अहूर्ति।

बालक के जन्म के समय नक्षत्रो की स्थिति का उसके सम्पूर्ण जीवन पर प्रभाव होता है—उसकी आयु प्रकृति, सुख दुख की परिस्थितिया, ज्ञानोपलब्धि,

---

१ ट्रविल्स इन द मुगल एम्पायर, पृ० ३६०-३६६

२. India—What Can it Teach Us, p ३६०.

विद्या-प्राप्ति तथा मित्र-शत्रु की उत्पत्ति आदि समस्त स्थिति का ज्ञान जन्म के समय के गृह नक्षत्रों से प्राप्त कर लेना ज्योतिषशास्त्र की अनुपम खोज है। घड़ी और पलों के भेद से भी जीवन की दशा में फेर पड़ सकता है, इतना सूक्ष्म यह ज्योतिष ज्ञान है।

ज्योतिष के एक अंग प्रश्नशास्त्र में तो प्रश्न पूछने के समय के नक्षत्र स्थिति का भी महत्त्व है। यदि कोई यह जानना चाहे कि खोयी हुई वस्तु मिलेगी या नहीं, रोगी का रोग-निवारण कब होगा अथवा व्यापार आदि में रकम लगाना लाभप्रद होगा या नहीं आदि-आदि तो प्रश्न ज्योतिष का आश्रय लेने से उचित फल-प्राप्ति होती है—तदनिमित्त प्रश्न करने के समय नक्षत्रों की दशा का अध्ययन करके ही फलादेश निकाला जाता है। यह प्रश्न लग्न सही हो और ज्योतिष विज्ञान का विद्वान पूर्ण निष्ठा एवं विश्वास के साथ स्थिति का अध्ययन करने में समर्थ हो तो निश्चय ही फलादेश (परिणाम) सही निकलेगा—यह है भारतीय ज्योतिषशास्त्र का चमत्कार, जिससे विमुग्ध और आकृष्ट होकर विदेशी विद्वानों ने भी इस विद्या में अपनी मन शक्ति लगानी आरम्भ की और आज नक्षत्रों की स्थिति का ज्ञान होने पर मनुष्य के शारीरिक आकार, मुखाकृति, रंग, लंबाई तथा प्रकृति का भी आभास मिल सकता है।

७

विज्ञान एवं शिल्पतन्त्र

आधुनिक विज्ञान एव तकनीकी के क्षेत्र मे भी भारतीय संस्कृति का महत्त्वपूर्ण योगदान है। यूरोप की परिकल्पना मे बाह्य जगत् छानबीन की प्रधानता है और यह खोज अति उच्च शिखर पर पहुच गई है। यूरोपीय विचार इस जड जगत् एक ऐसे जीवन तत्त्व की कल्पना है कि इसी को पाना जीवन लक्ष्य मानता है परन्तु प्रकृति के जड प्रवाह के मध्य एक ऐसी निराली सत्ता जीवन है जो हर क्रिया-कलाप का केन्द्र है—जिसे यूरोपीय मस्तिष्क नही पहचान पाया था—भारत ने उसी मूल तत्त्व को आधार मानकर जीवनोपयोगी कार्य कलापो को श्रेय दिया। तर्क बुद्धि विज्ञान, नीतिशास्त्र और कला के द्वारा, करने का प्रयत्न—नियामक और सामजस्यपूर्वक उपयोगिता ही हमारा उद्देश्य है। विभिन्न समयो म विभिन्न शक्तियो ने नेतृत्व किया है। विज्ञान का क्षेत्र भी वैदिक काल मे उपलब्धियो से अछूता नहीं रहा।

गणित मे शून्य अक की खोज और रसायन विद्या का आविष्कार भारतीय मनीषा की ही देन है, जिसके आधार पर विश्व भर के विद्वानो ने विकास की विशाल इमारत खडी की है।

कई भारतीय विद्वानो ने अद्भुत वैज्ञानिक खोजो के फलस्वरूप नोबल पुरस्कार प्राप्त किये हैं एव कई अब भी अमरीका आदि देशो मे खोजरत हैं—जिनम निम्नलिखित नाम उल्लेखनीय हैं। विश्व भर मे इनके कार्य की सराहना हुई है—

१ डॉ० सी० वी० रामन ने भौतिकी मे प्रकाश की किरणो पर खोज करके नोबल पुरस्कार पाया।

२ डॉ० जगदीशचन्द्र बसु ने खोज की कि पेड-पौधो मे भी जान होती है—इस खोज पर वह नोबल पुरस्कार के भागी बने।

३ डॉ० खुराना ने अमरीका मे जीवविज्ञान मे आनुवंशिक जैनटिक कोड का वर्णन किया है। जीव रचना पर उनकी खोज जारी है जिसके द्वारा

कोशिकाओं से जीव-उत्पत्ति हो सके। अमरीका में डॉ० खुराना ने जो कार्य आरम्भ किया था वह चालू है।

४. प्राचीन विद्वानों में श्री आर्यभट्ट द्वारा गणितशास्त्र की उपलब्धियां उल्लेखनीय हैं, जिनके आधार पर आज यह शास्त्र इतना विकसित हो सका।

५ होमियो जे० भाभा एटोमिक एनर्जी के अग्रदूत हैं।

६ डॉ० साराभाई अन्तरिक्ष की खोज द्वारा नक्षत्र विद्या के अग्रणी हुए।

■ आधुनिक खोजों में कृषि सबंधी हरित क्रान्ति और श्वेत क्रान्ति अत्यन्त चामत्कारिक एवं उपयोगी कृत्य हैं—ये भी भारतीय विद्वानों क्रमश डॉ० स्वामीनाथन तथा प्रो० कुरियन के प्रयास का परिणाम है।

८ समुद्री विद्या में भी श्री एस० जेड० क्यूसिम ने अद्भुत खोजें की।

६ प्रो० नारलेकर ने आइन्स्टीन की पद्धति को आगे बढाया—जो आज प्रसिद्ध वैज्ञानिक न्यूटन का समकक्ष माना जाता है।

१० रसायनशास्त्र में प्रो० मेघनाथ साहा ने अणु विद्या पर खोज करके यह सिद्ध किया कि एटम जो सबसे छोटा कण होता है उसके भी अंश हो सकते हैं।

यह समस्त जानकारी मुझे देश और विदेश (भारत और अमरीका) में विज्ञान और तकनीकी के विशिष्ट विद्वानों से साभार प्राप्त हुई।

दक्षिण भारत में सामान्य रूप से वर्तमान द्रविड संस्कृति की जो अन्तर्विद्या प्रतीत होती है, यहा लाल और काले बर्तनों का एक नया मृत्तिका उद्योग है और लोह की बनी अनेक वस्तुओं का वहा अचानक प्रादुर्भाव हुआ। लाल और काले रंग के बर्तनों का मूल स्रोत पता करने पर कुछ तथ्य प्रकाश में आये हैं, जिनसे विदित होता है कि रसायन शास्त्र भी भारतीय मस्तिष्क की उपज है। नियमत इन बर्तनों को आग में पकाने के पूर्व चिकनी मिट्टी अथवा हड्डी के औजार से रगडा गया है जिससे इनकी सतह किनारे तक चमकीली बन गई।

बर्तन का भीतरी भाग काले रंग का इसलिए है कि आग में पकाते समय बर्तन को उलटकर रख दिया गया था—इसका अर्थ है कि भट्ठी में बर्तनों से हवा निकाल देने पर आग में वर्तमान कार्बन मोनोक्साइड मिट्टी में वर्तमान फेरिक ऑक्साइड से मिल जाता है। इसकी निचली सतह जो ऊपर रहती है और उसे अधिक मात्रा में हवा मिलती है वह उसे ऑक्साइड बना देता है और मिट्टी में वर्तमान फेरिक ऑक्साइड का आक्साइडेशन होते जाने पर, पकने के बाद मिट्टी लाल बन जाती है। इसका रंग विभिन्न तरह का हो सकता है। उसमें चार प्रतिशत आयरन ऑक्साइड होने से यह भूरे रंग का होता है और उससे अधिक होने पर नियमित काल में ही भिन्न भिन्न आभाएं बन जाती हैं।

व्यावहारिक जीवन में रसायनज्ञ का स्थान और मनुष्य के औद्योगिक एवं

८

आयुर्विज्ञान

आयुर्विज्ञान का मूल वेदों में है। अथर्ववेद में इस विद्या का विस्तृत वर्णन पाया जाता है। श्री अरविन्द ने लिखा है कि प्राचीन भारत के सभी भौतिक विज्ञानों में जो सांख्य और वैशेषिक दर्शन से सबंधित थे, आयुर्वेदिक चिकित्सा सर्वोपरि मानी जाती थी, बल्कि तर्क शास्त्र जो कालान्तर में न्याय सूत्रों में परिणत हो गया उसका मूल ही चिकित्सा शास्त्र था।"[1]

वैदिक चिकित्सा शास्त्र आयुर्वेद के नाम से उल्लिखित है, जिसका अर्थ है जीवन विज्ञान (Science of Life)। अथर्ववेद में १,००,००० पद हैं जिनमें इस विद्या पर प्रकाश डाला गया है। जीवन विज्ञान सदा से रहा है, परन्तु विशेष विचारकों द्वारा प्रस्तुत होने पर विद्या का प्रारम्भ माना जाने लगा। इस दृष्टि से चरक, वाग्भट्ट और सुश्रुत प्रारंभिक विद्वान हुए जिन्होंने जीवन विज्ञान पर चिन्तन कर-करके मानव-शरीर-रचना को समझा और उसे स्वस्थ रखने के अथवा दोष उत्पन्न होने पर उपाय हेतु मानव शरीर को प्रभावित करने वाली औषधियां निकाली।

चरक ने तो आयुर्वेद को पांचवां वेद माना है, और वाग्भट्ट ने इसे अथर्ववेद की उपवेद संज्ञा दी है। महाभारत में भी उपवेद का विषय है। नीलकण्ठ ने स्पष्ट किया है कि चार उपवेद हैं—आयुर्वेद, धनुर्वेद, गन्धर्व और अर्थशास्त्र। बाद के पुराण ब्रह्म विवर्त में उद्धरण है कि ब्रह्मा ने आयुर्वेद रचा।"[2]

उपर्युक्त विवरण से प्राचीन भारत में आयुर्वेद अर्थात् जीवन विज्ञान की महत्ता सिद्ध होती है। आयुर्वेद एक प्रकार से अथर्ववेद का सहायक रूप में समझना चाहिए। दोनों में ही रोगोपचार दीर्घायु प्राप्ति के सिद्धान्तों पर प्रकाश डाला गया है।

आयुर्वेद में सामान्यतया रोगों के दो कारण माने गये हैं। एक अनुपर्युक्त

---

१ Foundations of Indian Cutlure, p 272।

२ वही, पृ० ३७५।

भोजन, दूसरा पापअथवा अपराध। चरक ने स्वय प्रायश्चित औषध का नाम भेषज दिया है और चक्रपाणि ने इस पर कहा है कि पाप से उत्पन्न रोगो का निवारण प्रायश्चित से होता है—इसलिए भेषज को प्रायश्चित का पर्यायवाची माना है। आयुर्वेद सिद्धान्तो की प्रारभिक रचनाओ मे चरक सहिता और सुश्रुत सहिता है।

चरक और सुश्रुत द्वारा जीवन विज्ञान सबधी रचे हुए सिद्धान्त समन्वित है। ये ग्रन्थ अब भी उपलब्ध हैं। आयुर्वेद शब्द चरक द्वारा सर्वप्रथम प्रयुक्त हुआ।

चरक ने जीवन के चार प्रकार बताये हैं— सुख, दु.ख, हित और अनहित। इनकी परिभाषा भी उसकी अपनी विशिष्टता है। सुखम् आयु का आशय है जो जीवन शारीरिक अथवा मानसिक रोगो से प्रभावित न हो और जिसमे विज्ञान शक्ति, ओज, स्फूर्ति आदि से सम्पन्न होने के फलस्वरूप पूर्ण आनन्द और सफलताओ से पूर्ण हो। इससे विपरीत जीवन असुखम् कहलायेगा।

इसी प्रकार हितम् आयु उस मनुष्य की है जो सदैव दूसरो की भलाई मे तत्पर रहे, कभी किसी की सम्पत्ति न चुराये, सच्चा सयमी, नीति का उल्लघन न करने वाला, सुख-दु ख, बुराई-भलाई आदि द्वन्द्वो म समभाव रहना आदि गुणो से सम्पन्न हो। इसके विपरीत विशेषताओ वाला व्यक्ति अनहित कहलायेगा। अथर्ववेद मे तीन प्रकार क रोग हैं—वातज (airy), शुष्क और अभ्रज। चरक सहिता मे वात-पित्त-कफ की उत्पत्ति कीट से बताई है—जो बिना पचा हुआ भोजन होता है (waste product) उससे रोग होते हैं। इसे धातुमल कह सकते हैं।

सुश्रुत ने कीट का उल्लेख नही किया है। उसने शारीरिक गतिशीलता को पाचन प्रक्रिया की प्रकृति माना है और पाच्य भोजन पदार्थ तथा गर्मी के विभाजन का जिस तरह पकाने के लिए गर्मी-पानी और हवा आवश्यक होते हैं यही उदाहरण उसके दिमाग मे रहा होगा। तात्विक क्रिया के कारण होने वाली शारीरिक क्रियाओं की ओर उसका अधिक झुकाव है। भोजन का रस पृथ्वी की जगह और तीन अन्य तत्व—अग्नि (पित्त), जल (कफ) और हवा (वात)। इस रूप मे ग्रहण का कारण सुश्रुत ने नही बताया है।

वाग्भट्ट मध्यम मार्ग अपनाकर लिखते हैं कि वे तीन गुणो से प्रतियोगिता करने योग्य है—यद्यपि एक-दूसरे के विरोधी तत्त्व है पर सहयोग भी देते हैं। क्योंकि रोग दोषो का ही परिष्कृत रूप है। आगे दोष, धातु और धातुमल बिलकुल भिन्न तत्त्व हैं—किन्तु वह इन दोषो के विषय मे निश्चित मत नही दे पाया। निश्चित विचार चरक ने ही दिया है।

चरक ने वायु को रूक्ष, शीत, लघुश्चल, विपद (विभिन्न दिशाओं मे फैलने वाली) माना है जो शरीर मे निष्प्राण व क्रियाहीन हो जाती है। स्वस्थ शरीर मे

प्राण-उदान-समान-व्यान और अपान के रूप मे होकर शरीररूपी यन्त्र को धारण करती है—यह वह शक्ति है जो मन को अवाञ्छनीय कृत्यो से रोककर उचित दिशा मे मार्गदर्शन करती है, इद्रियो को क्रियाशील बनाती है, इद्रिय विषयो को शक्ति देती है, धातुओ को एकत्रित करती है और पूरे शरीर की क्रियाओ मे सामंजस्य स्थापित करती है। वाणी स्पर्श आदि इद्रियो की सचालन शक्तिहै। आनन्द और मानसिक शक्ति का आधार है। गन्दगी को स्वच्छ करने वाली, सब प्रकार के सचालन को करने वाली—अधिक क्या जीवन का आधार ही वायु है—'आयुष्य निवृत्य प्रत्यय भूता।'

इन सबसे यह स्पष्ट है कि आत्रेय की ट्रीटाईज लिखने से पूर्व स्वास्थ्य और रोग मे शरीर के फिजियोलॉजिकल फक्शन्स को जानने के लिए प्रयत्न किये जा चुके थे।

छादोग्योपनिषद् मे पृथ्वी, जल, वायु, अग्नि, आकाश—को विश्व निर्माण का सिद्धान्त माना है। अथर्ववेद मे विभिन्न वायु का उल्लेख है। कई उपनिषदो मे जीवन का प्रधान तत्त्व वायु माना है। वात, पित्त, कफ का सिद्धान्त बाद मे विकसित हुआ है—यह निश्चय है।

वर्षा मे पित्त इकट्ठा होता है, शरद ऋतु मे पित्त विकसित होता है—हेमन्त मे पित्त नीची स्थिति मे हो जाता है और कफ इकट्ठा होता है। ग्रीष्म मे वात बढता है। इसी प्रकार चरक ने पूरा वर्णन किया है कि किन स्थितियो मे पित्त सामान्य रहकर पाचन शक्ति ठीक करता है। कफ शक्ति-स्फूर्ति है। वायु जीवन की सारी क्रियाओ का आधार है।

वात के ८० प्रभाव हैं, पित्त के ४० और कफ के २० चिह्न होते हैं। चरक ने चिह्न भी बताए हैं जो रोग का आभास देते हैं और जिनसे पता चलता है कि वात-पित्त या कफ किसमे गडबडी है। चरक ने कहा है कि धमनी की जडें हृदय मे हैं जो पूरे शरीर मे ओजस ले जाती है, जिससे सब जीवित हैं। इसी से भ्रूण बनता है और हृदय बनने पर वहा आता है। यह शरीर का सार और प्राणो का स्थान है। धमनी इसलिए कहलाती है कि वे श्वेत रस को बाहर से भरती है। इनमें से शरीर को पोषण देने वाले श्वेत रस आदि बहते हैं और शिरा इसलिए कहलाती है क्योकि वे शरीर के विभिन्न भागों में जाती है।

धमनियो की पूरे शरीर मे अनेको शाखाएं हैं, विभिन्न विद्वानो ने इसका विश्लेषण विभिन्न प्रकार से किया है।

७०० शिराएं हैं जो चैनल की भांति फैली हुई हैं। इनसें शरीर में नमी रहती है। ६०० स्नायु हैं। इनमे छिद्र होते है और कन्दराज—स्पेशल प्रकार की स्नायु—ये शरीर के जोडो को बाधने का काम करते हैं।

शुश्रुत ने ५०० मसिल्स बताये हैं।

अनेटोमी तन्त्र विद्या का अति महत्त्वपूर्ण अंग है, चक्र सिद्धान्त। आधार चक्र के बीच मे स्थित है। इस पर आठ elevations हैं, जो सुषम्ना के मुख से छूते हैं। प्लेक्सस के केन्द्र पर स्वयभू लिंग है। इसमें डोरे जैसा तन्तु है। यह रीढ और कोयल्ड फायर कुण्डलिनी कहलाती है क्योंकि यहा नीचे की ओर अपान वायु से और ऊपर की ओर प्राण वायु के दबाव से हिलकर प्रकट होती है। इससे श्वास-प्रश्वास सम्भव होता है। फिर स्वाधिष्ठान केन्द्र—हृदय म है १२ शाखाओ वाला। इसी प्रकार पूरे शरीर क अनेक चक्रो का उल्लख है। कहन का तात्पर्य यह है कि तंत्र की ऐनेटोमी आयुर्वेद की ऐनेटोमी से भिन्न है।

मस्तिष्क और हृदय अत्यन्त प्राणवन्त कन्द्र हैं। प्राण और सारी इन्द्रिया सिर और हृदय पर आधारित हैं। सिर और हृदय का भेद अथर्ववेद के समय म ही जान लिया गया था।

चरक ने हृदय को ही अन्त करण का स्थान माना है। प्राणों का स्थान सिर, हृदय, कण्ठ, नाभि, रेक्टम, ब्लेडर, ओजस, वीर्य, रुधिर और मास को माना है। कई उपनिषदो मे हृदय को नाडियो का केन्द्र माना है।

शकर ने वृहदारण्यक मे नाडी या शिरा को हित कहा है जो भोजन के रस से विकसित होता है। यह शिरायें सख्या म बहत्तर हजार हैं—हृदय से पूरे देह म फैली हुई हैं। बुद्धि हृदय मे रहती है और वहा स वह इन्द्रियो पर नियन्त्रण करती है।

(ऐनेटोमी) रुधिर-सचालन (circulatory and nervous system)—शरीर मे शिरा और धमनी दो प्रकार की नालिया (चेनल्स) हैं जो अथर्ववेद के समय म ही पहचान ली गई थीं—वृहदारण्यक ने हृदय की हित नाडी को इतनी सूक्ष्म बताया है जैसे बाल का हजारवा भाग। इनमे श्वेत, नील और पीला रस (liquid) बहता है। इसकी समीक्षा करते हुए शकर ने कहा है—वात, पित्त, कफ के विभिन्न मिश्रण से ये विभिन्न रग उत्पन्न होते हैं जो नाडिया ले जाती हैं और सूक्ष्म शरीर के १७ तत्त्व जो सारी अन्त प्रेरित (instinctive) वासनाओ का आश्रय है, वे इन नाडियो मे रहते हैं। वृहदारण्यक न कहा है कि हृदय के छिद्र म सर्वाधिक सूक्ष्म भोजन रस का सार होता है। यही सार सर्वाधिक सूक्ष्म नाडियो में होता हुआ शरीर का पोषण करता है। इसके चारो ओर नाडियो का जाल बिछा रहता है। हृदय से अत्यन्त सूक्ष्म हित नाडियों द्वारा ऊपर की ओर जाता है, जिनकी जडें हृदय मे होती हैं।

छान्दोग्य उपनिषद मे हृदय से निकलने वाली नाडियो का उल्लेख है जिनमे से एक सिर की ओर जाती है। माण्डूक्योपनिषद् मे बताया है कि पहिये के स्पोक्स की भांति नाडिया हृदय से जुडी होती हैं। प्रश्नोपनिषद् मे १०० नाडिया हृदय मे बताई हैं और प्रत्येक की २२०० शाखायें हैं। उनमे होकर व्यान

वायु गतिशील होती है। मैत्रेयोपनिषद् म सुषुम्ना ऊपर की ओर सिर तक जाती बताई गई है जिसके माध्यम से प्राण का प्रवाह होता है।

इस प्रकार इतना ही स्पष्ट होता है कि शरीर म अनेको नाडिया है जिनम रस (liquid) का प्रवाह होता है। इनमे से बहुत-सी अतिसूक्ष्म हैं। नाडो शब्द कैसे लिया गया, इस विषय मे अलग-अलग उपनिषदो म अलग-अलग विचार हैं। चरक ने धमनी, शिरा और स्रोत नाम देते हुए कहा है कि इनके विभिन्न कार्यों के कारण अलग-अलग नाम लिये हैं।

सुश्रुत सहिता म लिखा है कि ब्रह्मा ने आयुर्वेद सबधी सिद्धान्ता के १,०० ००० सूत्र बताए जो १००० अध्यायो म फैले हुए हैं। बाद म इन्ह विषयो मे विभाजित किया गया जैसे—

१ शल्य (सिर के रोगो का शास्त्र)

२ काया चिकित्सा (सामान्य रोगो का इलाज)

३ भूत विद्यादुष्ट आत्मा के प्रभाव से मुक्ति)

४ बाल रोगों की चिकित्सा

५ अगद तन्त्र (विषैले पदार्थों का निवारण)

६ रसायक बाजीकरण (sex strength) प्राप्ति हेतु सुश्रुत का यह कथन भी मान्य है कि उपयुक्त रूप मे विषय विभाजन से पूर्व आयुर्वेद युक्तरूप से भी महान् था।

महाभारत मे अष्टाग आयुर्वेद का उल्लेख है। उपनिषदा मे आयुर्वेद की विभिन्न शाखाओ का उल्लख है। आयुर्वेद का एक सिद्धान्त यह है—धातु (वात, पित्त और कफ) इन तत्वो से शरीर बनता है और इनके निवास से नष्ट होता है। इनमे से किसी एक के अनुपात मे न्यूनता अथवा अधिकता होने से विभिन्न रोग उत्पन्न होते हैं जिनका उपचार इन तीनो को सतुलित करने वाली औषधियो से किया जाता है। आयुर्वेद की विभिन्न शाखाओ का साहित्य बहुत पहले से विद्यमान था जिसका विकास कालान्तर मे हुआ। चरक सहिता मे भी आयुर्वेद का अनादि काल से आया (परम्परागत) बताया है। इनमे उन्होने जडी-बूटियो और खुराक आदि को भी सम्मिलित करके इनका प्रभाव मानव शरीर पर और तर्कशील बुद्धि पर बताया है। आज विकसित हुए आधुनिक चिकित्साशास्त्र (मेडिकल साइस) मे भी अनेक जडी-बूटियो का उपयोग होने लगा है। अनुसधान कर-करके विद्वान भारतीय प्राचीन औषधियो के मूल्य को पहचान रहे हैं।

अथववेद काल मे सैकडो डॉक्टर तथा फारमेकोलोजिस्ट्स थे जो दवाइयो से रोग दूर करते थे। आत्रेय को चिकित्साविज्ञान का विधायक कहा गया है। रोचिल द्वारा बुद्ध की जीवनी म बताया है कि उनके शिष्य जीवक ने तक्षशिला

विश्वविद्यालय मे आत्रेय गुरु से चिकित्सा शास्त्र सीखा । चरक का आत्रेय स्कूल जो आयुर्वेद कहलाया अथर्ववेद से ही विकसित हुआ माना जाता है। सुश्रुत द्वारा वर्णित कोई अलग स्कूल नही था । अलग-अलग गुरुओ द्वारा विकसित होने के कारण सुश्रुत सहिता नाम दे दिया गया । मान प्रतिष्ठा पाने हेतु सुश्रुत ने अपने को अथर्ववेद का उपाग घोषित कर दिया ।

अथर्ववेद काल मे तात्रिक विद्या से रोग उपचार होता था—चरक ने लिखा है कि जडी-बूटिया मन्त्रो के साथ तोडी जानी चाहिए (६/१/३६) । साधारण चिकित्सक द्वारा प्रयोग मे लायी जाने वाली जडी-बूटियों के मुकाबले की तान्त्रिक विद्या मानी जाती थी । प्रचलित तान्त्रिक उपायो के साथ ही औषध पद्धति भी जोड दी गई। विभिन्न मन्त्र विभिन्न रोगो के लिए प्रयुक्त होते थे—ज्वर, अतिसार, अतिमूत्र (डाईबिटीज), आस्रव आदि—इसे भी डाईबिटीज के अर्थों मे समझाया है ।

ब्लूमफील्ड ने अथर्ववेद की सामग्री को १४ भागों मे विभाजित किया है । जिसमे रोगो के सामान्य विभिन्न कारण, उपचार विधि आदि सभी आ जाते हैं । यह हैं प्राचीन भारत की आश्चर्यजनक उपलब्धियां जिनके आधार पर विकसित आयुर्विज्ञान ने आज एक विशाल रूप धारण किया है ।

अथर्ववेद के पौराणिक चिकित्सक प्रजापति और इन्द्र से—आत्रेय चरक सहिता मे उन्हे आयुर्वेद के सर्वप्रथम चिकित्सक माना गया है ।

वैदिक ऋषि अंधविश्वासी नही थे। परम सत्ता मे आस्था के फलस्वरूप वे यंत्र शक्ति से रोगोपचार करना सिखाते थे । वे मानते थे कि दृश्य अथवा अदृश्य कीटाणु होते हैं जो अतडियो मे सिर और एडियो द्वारा प्रवेश करके कई ढगो से सारे शरीर मे मिल जाते हैं और वे किसी भी जडी-बूटी से नही मारे जा सकते । कभी वे पहाडो और जगलो मे तथा जडी-बूटियो मे रहते है और हमारे खाने-पीने के पदार्थों के जरिये शरीर मे प्रवेश पा जाते हैं—उन्हें भी मत्रो द्वारा निकाला जाता था ।

आयुर्वेद का सम्बन्ध तीन प्रश्नो से था—१. रोग किस प्रकार उत्पन्न हुआ, २. कैसे जाचा गया और ३. कैसे उपचार हो । इनमे से रोगो का कारण समझने की विद्या का विकास पीछे के साहित्य मे पाया जाता है। अथर्ववेद मे जो तीन प्रकार के रोग बताए हैं—अभ्रज, वातज और शुष्म । इससे रोगो का कारण स्पष्ट नहीं होता। वैदिक काल मे रोगो का मुख्य कारण दुष्कर्म माना है जिसके फलस्वरूप दैव कोप से रोग होते है, रोगो की पहचान का मोटा तरीका चिह्न था ।

राजयक्ष्मा (टी० बी०) गठिया रोग, खासी, जुकाम वगैरह हृदय रोग आदि का इलाज जडी-बूटियों तथा मन्त्रशक्ति से होता था ।

संभव है।

'धातु-साम्य-क्रिया कोका तन्त्रस्यास्य प्रयोजनम्' धातु साम्य से शरीर स्वस्थ्य रहता है और धातु वैषम्य से रोग-स्थिति उत्पन्न होती है। शरीर पंच तत्त्वों का समुदाय है और धातु वे तत्त्व हैं जो शरीर को सम्हाले हुए हैं—चरक संहिता में [illegible] धातुओं का उल्लेख है। इनके अतिरिक्त १० उप-धातुएं हैं—

शल्य चिकित्सा (Surgery)—भारत में शल्य चिकित्सा में भी बहुत साधन थे और चिकित्सा पद्धति का तो आज तक बड़ा ही महत्त्व है, जिसका वर्णन वेदों में भी आया है—यद्यपि मध्यकालीन युग में वह ज्ञान क्षीण हो गया था। अब पुनः शक्तिवान् बन रहा है। अथर्ववेद में एक्सगेटो (aksgatto) नामक सर्जन का भी परिचय मिलता है जिसने भगन्दर की शल्य चिकित्सा की थी।

ऋग्वेद में भी शल्य चिकित्सा का उल्लेख है (१-११६-१५)। अश्वनीकुमार जो दो वैद्य थे, उन्होंने विश्ववाला को युद्ध में खोई हुई टांग के स्थान पर लोहे की टांग लगाई थी।[1]

सारांश यह है कि भारत में आयुर्विज्ञान सब प्रकार से सम्पन्न और समृद्ध था। इस विज्ञान का मूल भी वेदों में होने के कारण क्रान्तदर्शी ऋषियों की अन्तर्दृष्टि से ही उत्पन्न यह शास्त्र था, जिस पर चिन्तन करके उनके शिष्य रूप परवर्ती ऋषियों ने हमारी शरीर रचना, उसकी क्रिया और प्रक्रियाओं तथा जीवन विज्ञान को समझा, फिर आरोग्य के सिद्धान्त निर्धारित किये, रोगों की पहचान की विधियां (diagnosis) निकाली एवं रोगोपचार के प्रकृत उपाय खोज निकाले, अर्थात् प्रकृति वैभव में से ही जड़ी-बूटियां खोज निकाली, जिनका प्रयोग विभिन्न रोगों में मनुष्य की प्रकृति से मेल खाकर रोग का बहिष्कार कर सके।

भारत की वेदकालीन तात्त्विक खोजों के आधार पर ही आधुनिक मनीषा ने आयुर्विज्ञान सम्बन्धी अनुसंधान करके वैज्ञानिक चिकित्सा शास्त्र का महान् वृक्ष खड़ा किया, ऐसा समझना चाहिए।

---

१. ए हिस्ट्री ऑफ इण्डियन फिलॉसफी, पृ० २२९।

६

शिक्षा का स्वरूप

प्राचीन भारत की शिक्षा-प्रणाली मे आश्रम-व्यवस्था के अनुसार बाल्यकाल से २५ वर्ष की अवस्था तक विद्यार्थी गुरुकुल अर्थात् गुरु के पास रहकर जीवन-निर्माणकारी शिक्षा ग्रहण करता था। यह काल मनुष्य की आयु में ब्रह्मचर्य आश्रम माना जाता था क्योकि विद्याध्ययन मे पूर्ण ब्रह्मचर्य अर्थात् संयमशीलता अथवा मनोनिग्रह के साथ जीवन-यापन करना होता था।

शिक्षा पूर्ति के पश्चात् विदा करते समय ऋषि विद्यार्थियो को अपने दीक्षान्त प्रवचन मे कहते थे—सत्य वद। धर्मं चर। स्वाध्यायान्मा प्रमद। सत्यान्न प्रमदितव्यम्। धर्मान्न प्रमदितव्यम्। कुशलान्न प्रमदितव्यम्। स्वाध्याय प्रवचनाभ्या न प्रमदितव्यम्। देवपितृकार्याभ्यान प्रमदितव्यम्। मातृ देवोभव। पितृ देवोभव। आचार्य देवोभव। अतिथि देवोभव। यान्यनवद्यानि कर्माणि तानि सेवितव्यानि नो इतराणि। यान्यस्माक सुचरितानि, तानि त्वयोपास्यानि, नो इतराणि। ये चास्मच्छ्रेयासो ब्राह्मण तेषा त्वयासनेन आवासितव्यम्। श्रद्धया देयम्। श्रिया देयम्। ह्रिया देयम्। 'एष आदेश एष उपदेश'। एतदनुशासनम् एवमनुपालनीयम्।

अर्थात् सत्य बोलो, धर्म का आचरण करो, अध्ययन की उपेक्षा मत करो। सत्य की अवहेलना मत करो।

ब्रह्मचर्य का तात्विक अर्थ है सफलता की ओर जाने हेतु मार्ग बताने वाली जीवनचर्या, जैसा कि शिवानन्द आश्रम के परमाध्यक्ष स्वामी चिदानन्द ने यज्ञोपवीतोपरान्त एक ब्रह्मचारी को उपदेश देते समय बताया था।

धर्म की उपेक्षा मत करो। कौशल से प्रमाद मत करो। धर्म-ग्रंथो के अध्ययन और प्रवचनो से प्रमाद मत करो। देवता और पितृ कार्यों से विरत मत होओ। माता के भक्त बनो। पिता के भक्त बनो। गुरु की पूजा करो। अतिथि को पूजो (अर्थात् देव मानकर प्रेम और हृदय से आतिथ्य करो)। जो अनिद्य कार्य है वही करो—अन्य नही। जो श्रेष्ठतम ब्राह्मण हैं उन्हें आसन देकर मान करो, श्रद्धा विनीत भाव से दान दो। यह आदेश है, यह उपदेश है। यह पालन करने योग्य है,

अर्थात् इसका सदा पालन करना।

इस प्रकार गुरु द्वारा प्रदत्त शिक्षा का प्रमुख स्वर होता था—नीति और धर्म का आचरण, कर्तव्य-अकर्तव्य विवेक माता पिता गुरु और अतिथि के प्रति श्रद्धा भक्ति के भाव हृदय मे धारण कराना, स्वाध्याय करके एव ज्ञानीजनो के प्रवचन सुनकर, सत्सग करके ज्ञानोपार्जन करना, सबके प्रति सम्माननीय एव पूज्य भाव से व्यवहार करना तथा सब प्रकार से सदाचरण का व्यवहार करना।

इस प्रकार की शिक्षा के बीज हृदय मे बोने के पश्चात् बाहरी ससार का अनन्त ज्ञान दिया जाने पर मनुष्य दुराचरण, स्वार्थपरता, झूठ, चोरी पर-पीडन आदि घृणित कृत्यो की ओर प्रवृत्त नहीं होता। स्वामी विवेकानन्द ने शिक्षा के तीन लक्ष्य बताए हैं—

(१) प्रथम उद्देश्य है भावनाओं का विकास—यथा प्रेम, करुणा, सेवा त्याग गुणो की स्थापना द्वारा पारस्परिक सहानुभूति एव विश्व बन्धुत्व की भावना का विकास करने वाली शिक्षा हो।

(२) दूसरा उद्देश्य है प्रतिष्ठा के लिए उपाधिया प्राप्त करना। बी०ए०, एम० ए० अथवा डॉक्टर, इजीनियर आदि डिग्री प्राप्त शिक्षित जनमानस मे अधिक प्रतिष्ठा पाता है। इसलिए स्वामी विवेकानन्द विशेष रूप से हर व्यक्ति को शिक्षा प्राप्ति की ओर उन्मुख होकर अपनी प्रतिष्ठा बढाने की चेष्टा करता है, जिसके फलस्वरूपव ह स्वत ही शनै-शनै जीवनयापन के लिए भी उत्तरोत्तर सुख-सुविधाए प्राप्त करता हुआ अपना जीवन स्तर उच्चतर बनाने म समर्थ हो सकता है।

(३) तीसरा ध्येय है भौतिक समृद्धि, सम्मान प्राप्त करने के लिए शिक्षा प्राप्त करना। इस ध्येय की पूर्ति हेतु कला, विज्ञान एव वाणिज्य आदि सभी प्रकार की उपाधिया उपार्जन के दृष्टिकोण से ली जाती हैं।

यद्यपि शिक्षा के सभी उद्देश्य समन्वित रूप से मनुष्य के लिए आवश्यक हैं एव मगलकारी हैं परन्तु प्रत्येक उद्देश्य की पृष्ठभूमि मे प्रथम उद्देश्य अर्थात् भावना के विकास हेतु शिक्षा प्राप्ति नितात आवश्यक है।

प्रारम्भिक शिक्षा मे भावनाओ के विकास द्वारा समुचित व्यक्तित्व निर्माण की शिक्षा मिलने के पश्चात् कला साहित्य, शिल्प विज्ञान अथवा किसी भी प्रकार की विद्या प्राप्त की हुई सार्थक होगी और उसका कई गुणा लाभ व्यक्ति, समाज और राष्ट्र के लिए कल्याणकारी सिद्ध होगा और उससे किसी प्रकार का आदी होने की सभावना नही रहती। यह थी भारतीय सस्कृति मे मानव निर्माणकारी शिक्षा। आज इस चरित्र निर्माणकारी शिक्षा के अभाव म अनन्त बाह्य ज्ञान प्राप्त करके भी मनुष्य मानव बनने के स्थान पर दानव बनता जा रहा है।

हमारे देश के महान् दार्शनिक डॉ० राधाकृष्णन ने कहा है कि हम कितनी भी भौतिक प्रगति कर लें किन्तु जब तक नैतिकता के गुणो का अभाव रहेगा

हमारी सभ्यता का पतन होना अवश्यम्भावी है। नैतिकता और आध्यात्मिकता हमारी संस्कृति के प्रमुख मूल्य हैं। आधुनिक शिक्षा प्रणाली में बाल्यकाल में किंडरगार्टन से लेकर विश्वविद्यालयों की उच्चातिउच्च शिक्षा तक बाह्य विषयों की विविधता एवं स्तर निस्सन्देह अत्यन्त ऊँचो चढ़ गई है। स्कूल जाने से पूर्व ही बाह्य संसार भूगोल, खगोल, सामाजिक संबंध, भौतिक पदार्थों का ज्ञान आदि की प्रचुर शिक्षा मिल जाती है। फिर शाला जाना आरम्भ होने पर इन सब विषयों का अधिकाधिक ज्ञान बढ़ने के साथ-साथ बुद्धि की कुशाग्रता हेतु गणित, बीज गणित, रेखा गणित तथा सामान्य ज्ञान, विज्ञान और समाज शास्त्र आदि अनेक विषय विभिन्न परीक्षाओं के पाठ्यक्रम में रखे जाते हैं। तत्पश्चात् कला, विज्ञान आदि सकायों में साहित्य, संगीत इतिहास, मनोविज्ञान, धर्म-दर्शन, अर्थ-शास्त्र अथवा जीवन शास्त्र, भौतिकी, रसायन शास्त्र, भू-गर्भ शास्त्र आदि किसी भी विषय का विशिष्ट ज्ञान प्राप्त करने हेतु परमोच्च शैक्षणिक स्तर के पाठ्यक्रम एम० ए०, पी-एच० डी० आदि के निर्धारित होते हैं, अथवा मैडिकल विद्याओं को सीखकर मनुष्य प्रकृति पर विजय प्राप्त करने को तत्पर है परन्तु इतना बाह्य ज्ञान का भण्डार मस्तिष्क में भरकर भी, प्रचुर धन एवं जीवन का अमूल्य काल ज्ञानार्जन में व्यय करके भी क्या आज का शिक्षित मनुष्य सुखी है? यह एक प्रश्न-चिह्न बनकर रह जाता है। इस विद्या के सहारे जिन मुट्ठी-भर लोगों को जीविका कमाने का साधन नौकरी अथवा अन्य व्यवसाय मिल जाता है, भौतिक दृष्टि से आराम से रह लेते हैं, किन्तु उन्हें भी सच्ची सुख-शान्ति थोड़े ही मिल पाती है।

सुख का साधन आन्तरिक शान्ति एवं मानव मात्र की आन्तरिक एकता को समझे बिना जीवन-यात्रा के प्रति प्रेम, करुणा, सेवा के भाव जागृत नहीं हो पाते। पारिवारिक और सामाजिक क्षेत्र में पारस्परिक सहयोग तथा मैत्री भाव विकसित नहीं होता—फलस्वरूप स्वार्थपरता एवं एक-दूसरे के प्रति अत्याचार और आतंक-पूर्ण व्यवहार को बढ़ावा मिलता रहता है, जो क्लेशमय वातावरण को जन्म देकर चारों ओर अशान्ति का प्रसार करता है। यह है आधुनिक शिक्षण-प्रशिक्षण का फल, जिसके कारण देश भर में भौतिक विकास सम्बन्धी प्रचुर शिक्षा उपलब्धियाँ हुई हैं, अहिंसक वृत्तियों का बोलबाला है मानवता अज्ञानता के आवरण से मुख छिपाकर ज्ञान के किंचित आलोक से प्रकाशमान स्थलों, सन्तों के आश्रमों में और विद्वज्जनों के प्रकोष्ठों में जा बैठी हो, जहाँ कहीं मानव जीवन के लक्ष्य और कर्त्तव्य-अकर्त्तव्य सम्बन्धी विषयों की चर्चा होती है और त्रस्त मानवता के दुखों के निवारण, दया, कर्म और दान के कृत्य होते हैं।

स्वामी कृष्णानन्द के शब्दों में, 'शैक्षणिक दृष्टि से परमोच्च डिग्रियाँ प्राप्ति के सभी आधुनिक तथा कथित शिक्षित युवक सुखी नहीं, फिर इस उच्च शिक्षा

ौर उच्चातिउच्च डिग्रियो का क्या मूल्य ? ज्ञान को शक्ति माना जाता है, ज्ञान
ो गुण है तथा भारतीय दर्शन मे ज्ञान परमानन्द है'—परन्तु क्या आधुनिक ज्ञान-
वधा प्राप्त जन शक्ति-सम्पन्न है, क्या वे गुणी हैं, क्या वे आनन्दस्वरूप हैं ? नहीं।
'म देखते हैं कि दुनिया मे शक्ति है राजनैतिक सत्ताधारी जनों मे अथवा पूजीपति
निको मे। गुणसम्पन्न, ज्ञानपूर्ण लोग निर्धन होते हैं। चाहे वे 'सादा जीवन
उच्च विचार' नीति को अपना कर निर्धनता स्वत वरण करें सन्त महात्मा आदि
थवा परिस्थितियों वश निर्धन रहना पडे। बात एक ही है—प्राचीन आश्रम-
यवस्था मे गृहस्थकर्मा जन ज्ञान प्रदान ऋषि-मुनि, सन्त-महात्माओ का पालन
रना और भूखे-नगे को भोजन वस्त्र देना अपना आश्रम-धर्म मानते थे और इस
कार की दान-वृत्ति उनके कर्तव्यो का अग बनी हुई थी। आज जो गृहस्थ धनी,
ानी लोग दया-धर्म और यज्ञ दान इत्यादि करते हैं वे भी सामान्यत यश कीर्ति
ी कामना अथवा पुण्य मानकर करते हैं। यज्ञ-दान आदि कर्म करने से मानो वे
वर्ग के अधिकारी बन जाएगे। आशय यह है कि कर्तव्य कर्म करने म भी यह
ाव जागृत रहता है।

श्री अरविन्द आश्रम की माताजी' ने कहा है पूर्ण शिक्षा के पाच प्रधान अग
—

भौतिक, प्राणिक, मानसिक, आतरात्मिक और आध्यात्मिक।

सामान्यतया य सभी पहलू व्यक्ति के विकास क अनुसार एक के बाद एक
काशित होते हैं। परन्तु उनमे से उपेक्षा किसी की नही होनी चाहिए। सभी
हलुओ को परस्पर एक-दूसरे को पूर्ण बनाते हुए विकसित होते रहना चाहिए—
भी व्यक्ति जीवन के अत तक अपनी ईश्वर प्रदत्त अनन्त क्षमताओ को प्रकाश-
ान करता हुआ जीवन की सार्थकता प्राप्त कर सकेगा।

शिक्षा के भौतिक स्तर में शरीर की शिक्षा आती है। शरीर की क्रियाओ
ो सयमित और नियमित रखकर सभी अगो के साथ क्रियाओ का प्रणालीबद्ध
ामजस्य स्थापित करने से शरीर का समुचित विकास होगा और यदि शरीर मे
ोई दोष अथवा विकृति हो तो सतर्कतापूर्वक उसे सुधारना होगा। फिर शरीर
लिए आवश्यक समुचित और सतुलित भोजन सबधी शिक्षा प्राप्त करके शरीर
ो सुसगठित और स्वस्थ बनाया जा सकता है। शरीर को आवश्यकतानुसार
श्राम देन के लिए अवस्थानुसार व्यवस्था आवश्यक है। ये सारी शिक्षा निजी
ाचरण और पुस्तक ज्ञान द्वारा मनुष्य को बाल्य काल से ही मिलना चाहिए—
सके वह गलत आदतों से स्वास्थ्य का हनन न करने पाये। प्राणिक शिक्षा मे
ल, शक्ति, सामर्थ्य, उत्साह और क्रियाशीलता निहित हैं। इस दिशा की ओर
हुत कम लोगो का ध्यान जाता है और उस दिशा म मनुष्य को शिक्षित करना
त्यन्त कठिन कार्य है। इसमे सफलता प्राप्त करने के लिए हमारे भीतर सहन-

शीलता, अध्यवसाय और दृढ़ संकल्प होना आवश्यक है।

व्यक्ति का स्वभाव भौतिक तथा प्राणिक जीवन के नियमों के अधीन रहकर सतत साधना से गठित होता है। अतः यह आवश्यक है कि बच्चे की प्राणिक शिक्षा उसके मनोविज्ञान के आधार पर यथासम्भव शीघ्र आरम्भ की जाये। ज्यों ही वह अपनी इन्द्रियों का व्यवहार करने योग्य हो त्यों ही शिक्षण आरम्भ होने से बालक बहुत-सी बुरी आदतों से बचा रहकर हानिकारक प्रभावों को दूर कर सकेगा। इन्द्रियों को इस प्रकार सुशिक्षित किया जा सकता है कि वे अपनी क्रियाओं में निर्दोषता लाते हुए शक्ति प्राप्त कर सकें। इन्द्रियों और उनके व्यापार को सामान्य शिक्षा के साथ ही यथाशीघ्र विवेक और जिससे जो कुछ सुन्दर और सामंजस्यपूर्ण, सरल, स्वस्थ विकसित हो। यदि इंद्रियों का विधिवत् और ज्ञान-पूर्वक संस्कार किया जाए तो बच्चे में यदि संसर्ग दोष के कारण निकृष्ट और असंस्कृत चीजें उत्पन्न हो गई तो वे भी धीरे धीरे दूर हो सकेंगी और साथ ही वे संस्कार उसके चरित्र पर भी सुखद प्रतिक्रियाएं उत्पन्न करेंगे।

बच्चों को सिखाना चाहिए कि वह सतर्क रहकर आत्मनिरीक्षण करे। अपनी प्रतिक्रियाओं तथा आवेगों और उनके कारणों को समझकर सहज प्रेरणावश उत्पन्न हुए अवसाद, निराशा और निरुत्साह आदि दुर्बलता के भावों को स्पष्ट बनकर उनका बहिष्कार करने का प्रयत्न करता रहे। इंद्रियों पर प्रभुत्व और विजय प्राप्ति के संकल्प को दृढ़तर बनाने हेतु बालक को निरंतर उच्च कोटि के दृष्टांतों द्वारा प्रोत्साहन देते रहना चाहिए।

मन की शिक्षा का सही रहस्य न समझने के कारण इसमें ऐसे छिद्र रह जाते हैं जो मानसिक शिक्षा को अपूर्ण और निरर्थक बना देते हैं। सामान्यतः माता-पिता और शिक्षक बच्चे के मस्तिष्क को प्रबुद्ध करने की अपेक्षा कठोर शिक्षा पद्धति के अनुसार अत्यधिक ज्ञान सामग्री (बाह्य ज्ञान) ठूसकर यह समझ लेते हैं कि मानसिक विकास का कार्य पूर्ण हो गया।

मानसिक विकास के अन्तर्गत एकाग्रता की शक्ति, सजगता, मन को व्यापक, विशाल और समृद्ध बनाने की क्षमता, उच्चतर आदर्श प्राप्ति हेतु अपने समस्त विचारों को सुसंगठित और व्यवस्थित करते हुए अनिष्टकारी विचारों का त्याग करने की क्षमता और परिपूर्ण शान्ति देने वाली अंतःप्रेरणा को अधिकाधिक पूर्णता ग्रहण करने की क्षमता का विकास करना है। शिक्षा के इन अंगों को क्रियान्वित करने के लिए विभिन्न व्यक्तियों के साथ अलग-अलग विधियों को व्यवहार में लाया जा सकता है। मानसिक क्रियाओं पर संयमशीलता स्थापित करना मुख्य उपाय है। कुछ समय अपने विचारों को चुपचाप देखें और सजगता से एकाग्रता की शक्ति को बढ़ायें।

आंतरिक और आध्यात्मिक शिक्षा से तात्पर्य है—मनुष्य के भीतर

नही कर पाता और जीवन के यथार्थ लक्ष्य से विमुख हुआ क्षणिक स्वार्थो के वशीभूत हुआ धर्म विरुद्ध कृत्यो को अपनाकर आसुरी वृत्तिया मे फस जाता है, जैसा भगवद्वाणी मे भगवान् कृष्ण ने कहा है—

"आशा पाश शतैर्बद्धा काम क्रोध परायणा।
ईहन्ते काम भोगार्थानन्यायेमाथ सचयान्॥
इदमद्य मया लब्धमिय आप्स्ये मनोरथम्।
इदमस्तीदमपि मे भविष्यति पुनर्धनम्॥
असौ मया हत शत्रु हनिष्ये चापरानपि।
अहमेवेश्वरो भोगी सिद्धो बलवान्सुखी"॥

अर्थात् आसुरी वृत्ति के लोग ईश्वर की सत्ता को न मानते हुए दम्भ और मान मे चूर हुए अनन्त कामनाओ के वशीभूत होकर विषय-भोगो मे तत्पर कामना पूर्ति हेतु उनका मन अनेक चिन्ताओ मे रहता है। भगवान कहते हैं—इन आसुरी प्रवृत्ति के लोग आशा रूपी सैकडो फासियों से बधे हुए, काम-क्रोध के परायण हुए विषय-भोगो की पूर्ति के लिए अन्यायपूर्वक धनादि अनेक पदार्थों को सग्रह करने की चेष्टा करते हैं। उनके मन मे इस प्रकार की चिन्ता रहती है कि आज मुझे यह मिल गया, यह मनोरथ पूर्ण होगा और मेरे पास इतना धन है, और भी हो जायेगा आदि। मेरे द्वारा शत्रु मार दिया गया, दूसरो को मार डालूगा। मैं स्वामी हू, भोगी हू, सिद्ध और बलवान हू, सुखी हू, ऐसे ही अनेक दम्भपूर्ण भावो से उनका चित्त भ्रान्त रहता है, मन मे विक्षेप छाया रहता है।

वर्तमान युग मे अधिकाश लोगो की ऐसी ही मनोवृत्ति की प्रधानता परिलक्षित हो रही है। नित्य प्रति के आतकपूर्ण व्यवहार, अत्याचार, चोरबाजारी और घूसखोरी आदि विविध दोष उच्चातिउच्च शिक्षित और भौतिक रूप से समृद्ध समाज मे मुह बोल रहे हैं। भारत की प्रधानमत्री प्रात स्मरणीया श्रीमती इन्दिरा गाधी की सुनियोजित निर्मम हत्या आधुनिक युग की आसुरी वृत्ति का ज्वलन्त उदाहरण है।

पर ये सब क्यो? उत्तर यही मिलता है कि बालको को प्रारम्भ से दी जाने वाली शिक्षा के मूल मे ही कही छिद्र है।

प्राचीन भारत की शिक्षा प्रणाली अथवा तदनुसार सन्त-महात्माओ द्वारा निर्दिष्ट यथार्थ शिक्षा के लक्ष्य को पहचानकर आज की युवा पीढी को गुरु से भौतिक, घर पर माता-पिता से और विद्यालयो मे शिक्षा के साथ-साथ मानसिक प्राप्ति तथा आतरात्मिक शिक्षा मिली होती तो नैतिक अनुशासन स्वत ही उनके जीवन मे स्थापित हो जाता। प्रेम, करुणा, सेवा और मैत्रीभाव से उनके हृदय द्रवित होते। निर्भयता, मन की स्थिरता, उत्साह और साहस आदि दैवी गुणो से सम्पन्न होते तो सभी प्राणियो के साथ अपने सबधो को अथवा किसी का जीवन

समाप्त करने की भावना उनके हृदय मे उत्पन्न ही नही होती।

सास्कृतिक मूल्यो का बहिष्कार करके विज्ञान के अनुसधानो से उपलब्ध भौतिकवादिता मगल की विधायक नहीं हो सकता।

आन्तरिक गुणो का विकास होने पर ही बाह्य व्यवहार शिष्ट होगा, जिसके फलस्वरूप अनुशासन की समस्या स्वत हल हो जायगी। विद्यार्थी म आत्म समान की दृढ भावना जाग्रह होने पर उसका व्यवहार स्वत अनुशासित हो जायेगा, क्योकि अनुशासन भग करने के परिणामस्वरूप मिलने वाले दण्ड एव अन्य प्रकार की अपमानजनक स्थिति को सहने की क्षमता न होने से वह सदैव अपने व्यवहार के प्रति सतर्क बना रहगा। किसी ने कहा—

नित्यप्रति के जीवन म सयमशीलता को ही अनुशासन कहते हैं। अनुशासन बाहर से कदापि नही थोपा जा सकता। सम्मान एव कर्तव्यनिष्ठा आदि गुणो के प्रादुर्भाव द्वारा भीतर से अनुशासन की उत्पत्ति होती है।

शिक्षक की योग्यता के विषय म महान् शिक्षा शास्त्री स्वामी कृष्ण ने लिखा है कि गुरु ब्रह्मचर्य और श्रोत्रिय होना चाहिए अर्थात ज्ञान का भण्डार हो और उसमे ज्ञान सम्प्रेषण करने की क्षमता हो।

आधुनिक शिक्षा प्रणाली म शिक्षक की योग्यता को आक का साधन भी विभव विद्यालयो की डिग्रिया मात्र रह गया है। परीक्षाओ व पाठ्यक्रम म जो बाह्य ज्ञान विभिन्न विषयो का निर्धारित होता है उस मस्तिष्क म भरकर उच्च श्रेणी म भी प्रभावपूर्ण अधिकारी बनकर गुरु पद पर आसीन होने की क्षमताए बिरले मे ही पायी जाती हैं।

आचार्य विनोबा भावे ने शिक्षक को अपनी शक्ति पहचानने का आह्वान किया है। शिक्षक की शक्ति है ज्याति, प्रकाश विचार और चिन्तन। राजसत्ता आयेगी चली जायेगी, परन्तु शिक्षको की परम्परा चलती रहेगी। उनका कहना है कि कर्तव्य केन्द्रित आचार्य कुल होना चाहिए। शिक्षा सरकार के अधीन न हो, शिक्षक स्वय योजना बनाए। इतनी क्षमता और शक्ति आज शिक्षक म होनी चाहिए। वेतन भी भरपूर दिया जाना चाहिए तभी शिक्षक बेफिक्र होकर कर्तव्यनिष्ठ बन सकेगा।

बालको के लिए सर्वोत्तम अनुभवी शिक्षक होने चाहिए। बच्चे देश की महानिधि हैं। आज कम से कम वेतन पर रख हुए अध्यापक को हमारे सर्वोत्तम रत्न सौंप दिय जाते हैं।

अध्यापक जब यह अनुभव करें कि हमारी स्वय शक्ति है तो वे अपने कर्तव्यो का गम्भीरता से चिन्तन करेंगे अपने आचरण म नैतिकता उद्भूत करने का सगठनों द्वारा सामूहिक प्रयत्न करेंगे। आज शिक्षा के क्षेत्र म सर्वाधिक आवश्यकता नैतिकता के विकास और कर्तव्यनिष्ठा की है जो अध्यापक व स्वय

निरीक्षण और निजी प्रयासो से ही सभव हो सकता है। भय अथवा दण्ड नीति से नैतिकता और कर्तव्यपरायणता थोपी नही जा सकती। अन्य चेतना जागृत होने पर ही आत्म-निरीक्षण और आत्म-सुधार की अन्त प्रेरणा होती है। आत्म-चेतना अपने ऊपर दायित्व पर होती है अत महर्षि विनोबा के आचार्य कुल की योजना की क्रियान्विति से यह मनोवैज्ञानिक तथ्य सुलभ लगता है कि शिक्षा सरकार और धनिको के आश्रय मे न रखकर स्वय शिक्षको द्वारा नियोजित हो। शिक्षको पर केवल ज्ञानियो का अकुश हो।

लेखिका का निजी अनुभव है कि लडको के स्नातकोत्तर महाविद्यालय का प्रशासन सम्हालने मे विभिन्न विभागीय अध्यक्ष आचार्यों को शिक्षण स्तर ऊचा उठाने, अनुशासन सुधारने एव अतिरिक्त प्रवृत्तियो के सचालन का दायित्व देते हैं। उन्होने अत्यन्त उत्साहपूर्वक चिन्तनशीलता स अपने दायित्व को सम्हाल कर अपने-अपने सबधित क्षेत्रों मे प्रशसनीय कार्य कर दिखाया। बल्कि युवा पीढ़ी छात्रो मे भी यह पाया गया कि जो विद्यार्थी अत्यन्त दुष्ट माने जाते थे उनके नेतृत्व मे विभिन्न उपसमितिया निर्मित करने से उन्होने अनुशासन स्थापन एव प्रवृत्तियों के सचालन मे प्रशासन को सराहनीय सहयोग दिया, जिससे दो वर्षो के भीतर महाविद्यालय का शैक्षणिक स्तर ऊचा उठकर चार स्नातकोत्तर विभागो मे विद्यार्थियो ने स्वर्ण पदक प्राप्त किये। अतिरिक्त प्रवृत्तिया अनुशासित एव शोभनीय ढग से सम्पन्न हुई तथा सब प्रकार महाविद्यालय का विकास हो सका। आशय यह है कि स्वतन्त्र चिन्तन स ही मनुष्य मे आत्म-सुधार और कर्तव्यनिष्ठा का विकास होना एक मनोवैज्ञानिक तथ्य है। शिवानन्द आश्रम ऋषिकेश के परमाध्यक्ष योगिराज स्वामी चिदानन्द जी ने बीकानेर म आयोजित एक शिक्षक सगोष्ठी मे शिक्षक के प्रति अपने सम्माननीय भाव व्यक्त करते हुए कहा था कि चार्वाक की थ्योरी 'ऋण कृत्वा घृत पिवेत्' के अनुसार हमारी सरकार को ऋण समुचित शिक्षा दे सकेगा। ऋण करके भी शिक्षक को सतुष्ट करना चाहिए तभी वह कर्तव्यनिष्ठ बनेगा। विनोबा जी का कथन है कि ' आज शिक्षक का धर्म रथ नीचे गिर गया है, वह भूमि के ऊपर होना चाहिए—परन्तु मुक्ति का सीधा-सादा उपाय है—अपने को पहचानो। जिसने अपने को पहचान लिया वह तत्क्षण एक नया मानव बन गया। दृष्टि आ गई तो सृष्टि बदल गई" इसलिए दृढ सकल्प द्वारा शिक्षको को खडा करना आवश्यक है। सबके सम्मिलित प्रयास से ही भारत की समस्याओ का परिहार होगा। शिक्षक वर्ग अपनी शक्ति को पहचानकर ज्योति-प्रकाश और ज्ञान का उद्घाटन करें।

शिक्षकों पर नैतिक प्रभाव की पूर्ण जिम्मेवारी हैं। उनमे यह आत्म विश्वास प्रकट होना चाहिए कि लॉ एण्ड आर्डर स्थापित करने के लिए पुलिस या मिलिट्री शक्ति की आवश्यकता नही। नैतिक प्रभाव से भी शिक्षक का प्रभाव नही पडता

तो मानव समझेगा कि इसमें कुछ कमी है। जिस प्रकार अधिक विद्यार्थी फेल होने पर शिक्षक को अयोग्य माना जाता है—वैसे ही यह भी है।'

भारत के प्रथम राष्ट्रपति संस्कृति के प्रतीक डॉ० राजेन्द्रप्रसाद ने कहा था शिक्षक राष्ट्र रूपी उद्यान के माली हैं। माली उद्यान को साज सवारकर सुन्दर पुष्प उगाता है। घास-फूस काट-छाटकर पौधो को सुरुचिपूर्ण ढग से बढने म सहायक होता है, उसी प्रकार अध्यापक बालक की मनोभूमि से अनावश्यक बातो को निकालकर उत्तम विचारो के बीज बोकर सुन्दरतम पुष्पो के विकास हेतु प्रतीक्षा करता हुआ आशा करता है कि उसके शिष्यो के कार्यों एव विचारो की सुगधि चारो ओर प्रसारित होगी प्राचीन भारतीय सस्कृति मे उत्तम सस्कार प्राप्त किए हुए समाज रूपी वृक्ष की जडो मे सस्कारो की खाद देने वाले ऐसे ही शिक्षको के कारण इस देश की सस्कृति आज भी विश्व मे सम्माननीय बनी हुई है।

पाश्चात्य विद्वान लाजिनुस ने कहा है—

प्रतिभा का ह्रास या विकास पराधीनता अथवा स्वाधीनता के कारण नही वरन समाज के नैतिक स्तर के उत्थान-पतन के कारण होता है। राष्ट्र के स्वतत्र होने पर भी हमारा नैतिक स्तर निम्नतर जा रहा है। उसे ऊपर की ओर ले जाने का प्रयास हमारी शिक्षा प्रणाली का परम कर्तव्य होना चाहिए, तभी हमारे स्वतत्र राष्ट्र के नागरिक अपनी प्रतिभाओ के विकास द्वारा देश का सम्पन्न व सुखी बनाकर स्वर्गीय सुख की वर्षा करने मे समर्थ होंगे।

बालक को छोटी अवस्था से ही सुसस्कारित, सही दिशा म शिक्षा मिल तो उत्तम चरित्र निर्माण हो।

प्रथम गुरु मा होती है—चतुर्दिक वातावरण और खेल खिलाने से प्रभावित होता है। बालक को प्रारम्भ से ऐसा प्रशिक्षण मिले कि वह सही अवलोकन करे। बुद्धि की कुशाग्रता का समुचित उपयोग करे, और सही भावाभिव्यक्ति की क्षमता विकसित की जावे।

विद्यार्थी जीवन के प्रारम्भ से ही बालक का वहा के मार्ग-दर्शन म सगठन बनाने विभाजन करने आदि का अभ्यास पडना चाहिए जिससे मिल-जुलकर काम करने की क्षमता उत्पन्न हो और सामाजिक जीवन सस्कार निर्मित हो। अन्तरात्मा के पूर्ण जागरण के लिए बलशाली स्वस्थ शरीर की बडी महत्ता है। अत व्यायाम प्रशिक्षण और स्वास्थ्य प्रदायक भोजन हो। शारीरिक स्वास्थ्य पर ही समुचित बुद्धि का विकास आधारित है।

बालक की रुचि एव प्रवृत्ति को समझकर मनोवैज्ञानिक ढग स व्यवहार द्वारा होने मे योग मिलता है। इस सारे प्रशिक्षण म प्रेम, करुणा और माधुर्य का अधिक प्रभाव होता है—डाट-फटकार और दण्डनीति से बालक की प्राकृतिक प्रतिभाए कुम्हला जाती हैं। शिक्षक और अभिभावक के आचरण द्वारा अधिक

प्रशिक्षण मिलता है।

प्राचीन भारतीय शिक्षा की गुरुकुल पद्धति मे ज्ञाननिष्ठा और श्रमनिष्ठा का समन्वय भी था। विद्यार्थी गुरुओ से ज्ञानार्जन करने के साथ-साथ श्रद्धा-भक्ति पूर्वक उनकी सेवा करते थ। यज्ञ हवन के लिए लकडिया लाते और कुछ समय आश्रम के पशुओ को पालने म लगाते थे। इस प्रकार उन्हे शारीरिक श्रम करने का अभ्यास बना रहता था। वर्तमान युग मे विद्यार्थी केवल विभागीय कामो म लगे रहते हैं। शारीरिक श्रम के कामो को प्रतिष्ठा से हल्का समझते है। श्रम की प्रतिष्ठा को नही पहचानते जिसके फलस्वरूप देश मे उत्पादन कम होने से भुखमरी फैल रही है। लोग नौकरी की तरफ भाग रह हैं। नौकरी चाहने वाले भी चाहते है कि ऐसा काम हो जिसमे श्रम न करना पड़े—कारखानो मे जो काम करत हैं वह अनिच्छा से या विवशतावश। विनोबा जी ने ज्ञाननिष्ठा और श्रमनिष्ठा के समन्वय पर बल देते हुए कहा है प्राचीन काल से यह आदर्श चला आ रहा है कि श्रमनिष्ठा और ज्ञाननिष्ठा इन दोनो शक्तियो का जीवन मे उत्तम समन्वय और सुसयोग होना चाहिए तभी शिक्षा भी उत्तम बनेगी और खेती भी उत्तम होगा। वेद मे ऋषि अगस्त्य का वर्णन आता है—

अगस्त्य खनमान खनित्रै
उभा वर्णौ ऋषिरुग्र पुपोष

अर्थात् कुदाली लेकर खोदता रहा और उस ऋषि उग्र ने दोनो वर्णों का पोषण किया—एक श्रमनिष्ठ श्रम प्रधान और दूसरा ज्ञान निष्ठा प्रधान वर्ण।

तात्पर्य है कि जो श्रम प्रधान है वह चार घटे खेती और दो घटे ज्ञानार्जन करें और ज्ञान प्रधान है वह तीन घटे खेती और चार घटे ज्ञानार्जन करे। और जो चार वर्ण हैं—चारो के कार्य मे इसी प्रकार श्रम का विभाजन होना चाहिए। कोई भी एक वर्ण बिना श्रम रहे। यह अभ्यास शिक्षा की प्रणाली मे पाठ्यक्रम के साथ होने से ही पड सकता है।

भारतीय ज्ञान परम्परा की सर्वश्रेष्ठ देन है ब्रह्मविद्या। इसका अर्थ है कि हम सब ब्रह्म का स्वरूप हैं। हम सब एक ही आत्मा हैं। आत्मा की एकता पर यह विद्या आधारित है। अपने सही स्वरूप ब्रह्मत्व को पहचानकर शिक्षक मे ज्ञान का प्रकाश आत्मबल और ओजस्विता प्रकट होगी और आत्मा की एकता को समझने से विद्यार्थियो के प्रति प्रेम, करुणा, वात्सल्य भाव उदय होगा, आत्मभाव से उन्हे यथार्थ जीवन निर्माणकारी शिक्षा देकर चतुर्दिक् विकास करने हेतु स्वत प्रेरणा होगी।

ब्रह्म विद्या के आधार पर प्रारम्भ से भारत बना था। वह शिक्षकों ने ही बताया था जो ब्रह्मज्ञानी थे। आज उनमे से कुछ के नाम-मात्र शेष हैं परन्तु उनकी परम्परा मे होने वाले रामानन्द और शकराचार्य ने सारे भारत म

घूम-घूमकर अपने विचारो का प्रचार किया। जिसके फलस्वरूप देश मे प्राचीन आदिकाल से सनातन धर्म ने वेदान्त के नाम से मानव मन पर आधिपत्य किया।

तक्षशिला और नालन्दा प्राचीन भारत मे प्रमुख शिक्षा केन्द्र थे। ऐतिहासिक प्रमाणो से सिद्ध है कि ईसा की १०००-६०० तक तक्षशिला प्रमुख केन्द्र बन चुका था। यहा वेदों और अष्टादश पुराणो के अतिरिक्त विविध शिल्पो का अध्यापन भी कराया जाता था। कहा जाता है कि संस्कृत के निष्णात वैयाकरणाचार्य पाणिनि सुप्रसिद्ध वैद्य जीवक एव अर्थशास्त्र के अमर प्रणेता चाणक्य इसी विश्वविद्यालय के छात्र थे। महात्मा बुद्ध के समसामयिक आत्रेय यहा के प्रकाण्ड आचार्य थे। कई विदेशी यूनानी और चीनी यात्रियो ने यहां की भूरि-भूरि प्रशंसा की है।[1]

जातको मे तक्षशिला विश्वविद्यालय का विस्तृत वर्णन है।

पाचवी शताब्दी ईसवी के पश्चात् नालन्दा विश्वविद्यालय शिक्षा का प्रमुख केन्द्र बन गया। चीनी यात्री युवानच्वाङ् (जो ह्वेनच्वाङ् नाम से प्रसिद्ध हुआ) के अनुसार मंगोलिया और चीन के हजारो विद्यार्थी ज्ञान वृद्धि हेतु आते थे। एक अन्य यात्री ने इस संस्था मे १० हजार विद्यार्थियो का उल्लेख किया है जो विदेशो से अध्ययन के लिए नालन्दा विश्वविद्यालय मे आते थे। भारत का महान शासक हर्षवर्धन विद्वानो का बडा आदर करता था। निष्णात विद्वान विश्वविद्यालय के विशाल भवनो मे प्रतिदिन भाषण करते थे, जिसमे समस्त विद्यार्थियो की उपस्थिति अनिवार्य थी।

यह विश्वविद्यालय गुप्तकालीन राजाओं के काल म स्थापित हुआ था—यहा का शिक्षा का मानदण्ड अति उच्च था और विभिन्न सकायो म प्रवेश के नियम भी अति कठोर थे। आचार्य पद के लिए तो वाद-विवाद और शास्त्रार्थ करना होता था[2] तभी नालन्दा के शिक्षक मेधा एव प्रज्ञा की दृष्टि से विलक्षण तथा अप्रतिहत थे।

प्राचीन पाठयक्रम मे वेदो तथा वेदाङ्गों को प्रमुख स्थान प्राप्त था। इसके अतिरिक्त छन्दशास्त्र, व्याकरण, निरुक्त, ज्योतिष, निघटु तथा कल्पादि की शिक्षा भी दी जाती थी।

इससे प्रकट है कि प्राचीन काल मे शिक्षा के क्षेत्र मे भारत अत्यन्त उन्नत अवस्था मे था—जिसके फलस्वरूप इस भूमि पर पाणिनि जैसे वैयाकरण जीवक जैसे शल्य चिकित्सक, चाणक्य जैसे अर्थशास्त्र के रूप मे राजनीतिक चिन्तन करने

---

१ श्री सुभाषचन्द्र सोनी के निबन्ध से साभार।

२ सत विनोबा भावे ने शिक्षा सबधी विचार प्रकट करते हुए लिखा है कि शिक्षक की योग्यता आकने के लिए विश्वविद्यालयी डिग्रिया पर्याप्त नहीं उनकी परीक्षा होनी चाहिए।

शिक्षाशास्त्रियो को ध्यान रखना है कि विद्यार्थी एक यन्त्र नही है जो मात्र बाह्य दबाव से चालू हो सकता है। विद्यार्थी एक जीवित प्राण सत्ता है, जिसमे बाहरी इच्छाए और आन्तरिक आकाक्षाए है—शिक्षा के द्वारा उन्हे समुचित रूप से ढालना होगा। व्यक्ति और समष्टि प्राणिक रूप से सम्बन्धित यात्रिक रूप से जुडे हुए नही।'

विद्यार्थी भावी राष्ट्र के निर्माता हैं। उनका जीवन महान दायित्व को वहन करने कि तैयारी रूप मे होना चाहिए—विद्यार्थियो को इस बात की चेतना हो और शिक्षण सस्थाओ का वातावरण विद्यार्थियो के लिए प्रेम, सहानुभूति, सेवा, अनुशासन सस्कृति और सहजीवन की भावनाओ से परिपूर्ण बनाया जावे। युवा पीढी में सास्कृतिक पुनरुत्थान होने का आशय है कि सम्पूर्ण राष्ट्रो का सुधार।

शिक्षा का आदर्श मानव निर्माण और चरित्र का निर्माण है। बिना चरित्र निर्माण के शिक्षा का कोई अर्थ नही। मानव जीवन के महत्वपूर्ण पक्ष की उपेक्षा करने वाली शिक्षा व्यर्थ है। शिक्षा का लक्ष्य व्यक्तित्व का विकास साहस, नियमितता और उत्साह आदि गुणो की उत्पत्ति है और शिष्टता एव अनुशासित जीवन भी।

विद्यार्थी और शिक्षको का ससर्ग प्राचीन काल के गुरुकुलो की भाति समीपता का होने से गुरु के गुणो को ग्रहण करने का अवसर मिलता है। गुरु शिष्य से स्नेह सम्बन्ध स्थापित होने से गुरु यथार्थ रूप मे शिष्य का हित चिन्तक बनकर उसके चतुर्दिक विकास हेतु प्रयत्नशील होता है। वह सच्ची शिक्षा प्रदान कर सकता है।

शिवानन्द आश्रम के महासचिव स्वामी कृष्णानन्द ने गम्भीर मनोवैज्ञानिक चिन्तन के आधार पर शिक्षा सबधी विचार अभिव्यक्त करते हुए आदर्श हेतु उपयुक्त पाठ्यक्रम की रूप-रेखा प्रस्तुत करने के साथ-साथ शिक्षक और शिष्य के सबधो को भी इगित किया है। उनका कहना है कि, 'अध्यापक अथवा प्रोफेसर और विद्यार्थी मे पवित्र पारस्परिक सबधो की स्थापना करनी है, जिससे सम्पूर्ण सस्था एक समान लक्ष्य के लिए समर्पित पावन सस्थान बन जाए।

प्राचीन भारत परम्परा से आये हुए विचार, शिक्षा प्रणाली आज भी हमारे देश को विषम परिस्थितियो से उबारकर मानव समाज को यथार्थ सुख-शान्ति की ओर अग्रसर करने मे सहायक हो सकते हैं।

साराश यह है कि मनुष्य के भीतर निहित पूर्णता के प्रकटीकरण का नाम शिक्षा है—शिक्षा का लक्ष्य है व्यक्ति के सीमित दायरे को विस्तार देकर सार्वभौमिक बनाने वाले ज्ञान से जनमानस को प्रकाशित करना, जिसके बल से मानव अपनी निम्न प्रकृति से ऊचा उठकर सामाजिक व्यवस्था को सुधार सके।

[1] परम विचारक स्वामी विद्यानन्द के शब्द शिक्षा के स्वरूप को एक वाक्य मे

व्यक्त करते हैं 'Education is diving in and spreading out' अर्थात् अन्तर्मानस मे डुबकी लगाकर दिव्यत्व जागृत करके और बाह्य जगत् के प्रकृति-वैभव का ज्ञान प्राप्त करना। दोनों क्रियाओ का नाम शिक्षा है। प्राचीन भारत की शिक्षा का यही स्वरूप रहा है। आधुनिक शिक्षा प्रणाली मे अन्तर्मन की, पूर्णता की ओर ध्यान न देकर उपेक्षा करके केवल बाह्य सामग्री को हा विद्यार्थी के मस्तिष्क मे ठूसना शिक्षा का ध्येय रह गया है। इसी कारण यह शिक्षा मानव को पूर्णता से वचित रखती हुई सुख का साधन नही बन पा रही है।

उपसहार

जब किसी विषय मे मनुष्य के मन मे निष्पक्ष भाव से चिन्तन चलता है तब उस क्षेत्र की उपलब्धियो, सफलताओ अथवा विफलताओ का भान होता है। दीर्घ-कालीन अंग्रेजो के आतकपूर्ण शासन म रहकर भारतीय जन-मानस मे शासको के प्रभुत्व से या तो हीनता की भावना घर कर गयी अथवा कुण्ठाओ के उत्पन्न होने से अपनी प्रतिभा लुप्त होने लगी—जिसके फलस्वरूप विदेशी सत्ता के प्रशसक गण अपनी उपलब्धियो की उपेक्षा करते हुए विदेशी सभ्यता के उपासक बन गये और विश्व भर मे विभिन्न क्षेत्रो म हुए विकास मे निहित भारतीय सस्कृति के तत्वो की ओर उनका ध्यान तक नही गया। परम विचारक एव सस्कृति के सच्चे पुजारी योगी अरविन्द जैसे देश-भक्तो का ध्यान इस ओर गया और उन्होने आदि ग्रंथ, वेदो से लेकर भारतीय सस्कृति की विभिन्न क्षेत्रीय उपलब्धियो को प्रकाशमान किया। उनसे पूर्व युगपुरुष स्वामी विवेकानन्द विश्व भर मे भारतीय अध्यात्म निधि का डका बजाकर जनमानस को चमत्कृत कर चुके थे। महर्षि अरविन्द ने विदेशी शासन के आतक और ताडनाओ से पीडित होकर व्यावहारिक जीवन म सास्कृतिक उपलब्धियो की महत्ता स्थापित करते हुए जनमानस म चेतना जागृत की और अनेक सस्कृति-प्रेमी विद्वान इस दिशा मे अनुसधानरत हैं, जिनम से कुछ का उल्लेख इस निबन्ध मे भी हुआ है।

जब हम किसी देश या जाति के गणितशास्त्र, ज्योतिषशास्त्र, अर्थशास्त्र तथा विज्ञान अथवा कला सम्बन्धी ज्ञान की चर्चा करते हैं तो हमारा ध्यान उसके शिष्ट लोगो द्वारा हुई तत्सम्बन्धी उपलब्धियो पर केन्द्रित होता है, यही बात जाति विशेष की सौदर्य-चेतना, नीति-चेतना, धर्म-चेतना आदि पर लागू होती है। वस्तुत सस्कृति जीवन के महत्त्वपूर्ण एव सार्थक रूपो की आत्म-चेतना है। उसमे हमारी सस्कृति की झलक होती है। आदिकाल से हमारे लिए जो लोक-काव्य और दर्शन रचते आए हैं, चित्र और मूर्ति बनाते आये हैं, वे हमारी सस्कृति के रचयिता हैं। सस्कृति के उपकरण हमारे पुस्तकालय और सग्रहालय, नाटक-शाला और सिनेमागृह ही नही बल्कि हमारे राजनीतिक और आर्थिक सगठन भी होते हैं। क्योकि उन पर भी हमारी रुचि और चरित्र की छाप लगी होती है। सास्कृतिक उत्कर्ष के प्रतिमान एक विशेष ढग से जातीय चेतना मे रहते है और वे उसकी सम्पत्ति होते हैं। मनुष्य अपने भौतिक अस्तित्व से भिन्न एक ऐसे आत्म

की सृष्टि करता है जिसकी जिन्दगी उसके भौतिक शरीरो पर नही रहती एव जिसका इतिहास विभिन्न भौतिक शरीरो के इतिहासो से अलग रहकर विकसित होता है। यही प्रतीक निर्मित 'आत्म' जातीय चेतना के नाम से अभिहित होता है, जिसके अन्तर्गत वे सब चीजें आती हैं जिनका समावेश काव्य, शास्त्र, धर्म और दर्शन आदि में होता है।

हिन्दू सस्कृति भारत की प्रतिनिधि सस्कृति मानी जाती है। कारण कि मानव जीवन के अनेक पहलुओ का जितना विविध एव व्यापक विवरण हिन्दू धर्मशास्त्रो मे मिलता है वैसा अन्यत्र नहीं। ईसाई तथा मुस्लिम आदि सस्कृतियो की उच्चतम अभिव्यक्तिया भारत-भूमि पर नही हुईं। हा बौद्ध, जैन एव सिख धर्मों से सबधित सस्कृतिया हमारे देश मे जन्मी और पनपी परन्तु उनके अहिंसा आदि मूल तत्वो से सम्बन्धित मूल्यवान शिक्षाओ को हिन्दू सस्कृति ने बहुत कुछ आत्मसात कर लिया। इस प्रकार हिन्दू सस्कृति की विविधता तथा समन्वय वृत्ति के फलस्वरूप इस देश मे इसका जितना सर्वांगीण विकास हुआ ऐसा किसी का नही हो सका। रामायण, महाभारत जैसे जातीय महाकाव्य तथा कालिदास, भारवि, माघ, भास और भवभूति आदि के समकक्ष महाकवि एव नाटककार अन्य किसी जाति या धर्म मे उद्भूत नही हुए।

लोक-जीवन से सम्बद्ध सौंदर्य-बोध तथा भौतिक आदर्शों के सम्बन्ध मे अन्य धर्म तथा जातिया बहुत कुछ हिन्दू सस्कृति से ही प्रभावित रही।

योगी अरविन्द ने—'Foundation of Indian Culture' शीर्षक महान ग्रथ का उपसहार करते हुए लिखा है कि मैंने जो सिद्धान्त निश्चित किय हैं वे अपनी प्रकृति भावना और आदर्शों आदि के प्रति आस्था एव बाहरी दुनिया की वर्तमान परिस्थितियो मे अपने को ढालने की आवश्यकता के फलस्वरूप तो हैं ही, साथ ही बाहरी प्रभावो का भी नितान्त बहिष्कार नही किया जा सकता। इसलिए उन तत्वो को भी यथोचित रूप मे अपनी सस्कृति मे समन्वित करना आवश्यक है।

भारतीय धर्म ग्रथो की सराहना करते हुए एव ईसाई मिशनरी सर जॉन वुड रीफ ने ता यहा तक कहा है कि यूरोप के उच्च दार्शनिक चिन्तन का आधार भारतीय ब्राह्मण ग्रथ हैं और यह भी कहा है कि समस्त बौद्धिक समस्याओ के आधुनिक पद्धति के हल पूर्व मे पहले ही सोच लिये गये थे।

अपनी महामहिम सस्कृति की महत्ता से विश्वस्त होकर वर्तमान परिस्थितियो मे भी सस्कृति के तत्वों के पुनर्जागरण की प्रेरणा युवा पीढी को देने के लिए यहा भारतीय सस्कृति की सर्वजनीन शक्ति से चमत्कृत दो पाश्चात्य विद्वानो के उद्गार उल्लेखनीय हैं—मैक्समूलर साहब अपनी पुस्तक 'India what cannot teach us, मे लिखते हैं—'If I were to ask myself from what literature we

here in Europe May I draw that corrective which is most wanted in order to make our life more perfect, more comprehensive more universal in fact more human, a life not for this life only, but a transfigure and eternal life, I should point to India'

पाश्चात्य देशो को वेद वेदान्त का परिचय जिसके कारण प्रधानतया प्राप्त हुआ, उन जर्मनी के महापडित शोपनहार का कहना है—

'Access to the Vedas, thegreatest privilege this century may claim over all previous centuries, in the whole world, there is no study so beneficial and so elevating as that of the Upanishads, I has been the solace of my life . it will be the solace of my death.'

स्वामी ईश्वरानन्द कहते हैं—इस विदेशी विद्वान को जीवन-मृत्यु मे सबल देने वाला हमारा शास्त्र भारतीय तरुणो के आत्म-विश्वास एव जीवन सफलता के आश्वासन द्वारा विषाद (Frustration) रूपी विष से रक्षा करेगा—इसमे सन्देह नही।

केवल दर्शन और उच्चकोटि के चिन्तन के सम्बन्ध मे ही विदेशी विद्वानो ने भारतीय सस्कृति से प्रेरणा लेने के भाव प्रकट नही किये हैं—बल्कि यूरोपीय कला भी अपने पुराने ढगो से हटकर पौर्वात्य कला के रूप और भावो को अपना रही है। भारतीय कला की व्यापक सराहना इसका प्रमाण है। काव्य के क्षेत्र मे विश्वकवि टैगोर की ख्याति सर्वविदित है—भारतीय, बौद्ध और सूफी कवियो की समानता मे कदाचित ही कोई कवि विश्व-भर मे इनसे पहले हुए हो। श्री अरविन्द ने कहा है—जितना ही नवीन सत्य के अन्वेषक भारत को अपना आध्यात्मिक घर बनाते जा रहे हैं उतना ही वे अपनी प्रेरणा का स्रोत भारत को मान रहे है अथवा यो कहे कि वे यहा के प्रकाश को स्वीकारते हैं और उससे प्रभावित होते हैं।

'श्रद्धा भक्ति ध्यान योगादवेहि' उस ब्रह्म को श्रद्धा-भक्ति-ध्यान-साधनात्मक योग मार्ग से प्राप्त करो। यह सूत्र वाक्य वर्तमान युग मे भी उतना ही सार्थक है। आधुनिक Technology के युग मे जीवन निर्वाह पद्धतियो मे जो परिवर्तन आया हुआ है उसके अनुसार विद्यार्थियो को केवल समाचारो (General knowledge) का सचय मात्र कराया जाता है। जीवन यापन मात्र द्रव्य-साधना न होकर आत्म-साधना बने। इसके लिए तरुण को अपनी साधारण शिक्षा के अतिरिक्त भारतीय शास्त्रो का अध्ययन करना पडेगा—इसे स्वाध्याय कहते हैं—वेदों मे इसका बहुत महत्त्व है—'स्वाध्यायान्मा प्रमदः'।

हमारी अपनी शास्त्र-विषयक अनभिज्ञता है—इस कमी की पूर्ति हेतु हमे शास्त्रो मे श्रद्धा-रुचिपूर्वक सेवन एव गहन अध्ययन आवश्यक है। श्रद्धा, भक्ति, ध्यान, योग का शाश्वत एव सर्वप्रथम विषय शास्त्र को बनाना पडेगा।

विषय चाहे वेदान्त हो, वास्तु-कला हो या आयुर्विज्ञान हो, हमारे सब शास्त्र, काव्य-रसमय एव दर्शन-सम्पन्न निर्मित हुए है—उसी शैली मे नूतन शास्त्रो का भी निर्माण होना चाहिए जिससे आधुनिक जगत् मे भारत अपनी सस्कृति को अक्षुण्ण रखते हुए नूतन आत्माभिव्यजन मे सफल हो सके।

विश्व को शान्ति देने का गुरुत्व भारत को ही प्राप्त था—आज उसकी सर्वाधिक आवश्यकता है। भारत अपनी शास्त्र-निधि से ही इसकी पूर्ति कर सकता है।